अध्यापन-कला

लेखक

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज़में

शिक्षणशास्त्रके आचार्य

साहित्याचार्य्य पंडित सीताराम चतुर्वेदी, 'हृदय'

एम्० ए० (संस्कृत, पाली, हिन्दी, प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति)

बी० टी०, एल् एल्० बी०

तथा

पंडित शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', एम्० ए०, बी० टी०

प्रकाशक

साहित्य-ग्रन्थमाला-कार्य्यालय

काशी

संवत् १९९९ विक्रमी

प्रकाशक
बजरंगबली, 'विशारद'
साहित्य-ग्रन्थमाला-कार्यालय,
जालिपादेवी, काशी।

मुद्रक
बजरंगबली
श्रीसीताराम प्रेस
जालिपादेवी, काशी।

प्रस्तावना

इस पुस्तककी कोई बड़ी रामकहानी नहीं है। जब मैं काशी हिन्दू-विश्व-विद्यालयके टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज्में अध्यापक होकर आया तो मुझे सबसे पहले शिक्षण-शास्त्रकी हिन्दी पुस्तकोंका अभाव खटका और यह जानकर आश्चर्य और दुःख हुआ कि यद्यपि सन् १८५४से शिक्षकोंकी ट्रेनिंगका विधान हुआ किन्तु तबसे आजतक भारतीय शिक्षकोंको योरोपीय दृष्टिकोणसे शिक्षण-शास्त्र पढ़ाया जा रहा है और हिन्दीके जाननेवाले शिक्षकोंकी सहायताके लिये, उन्हें उचित परामर्श और निर्देश देनेके लिये हिन्दीमें पुस्तकें ही नहीं लिखी गई हैं। इसी अभावकी पूर्त्तिके निमित्त मैं अपने मित्रोंके साथ कटिबद्ध हुआ। किन्तु मेरी स्वाभाविक व्यस्तताके कारण यह पुस्तक कल्पना-जगत्से निकलकर सूत्र रूपमें तो प्रस्तुत हो गई किन्तु पुस्तकका रूप धारण करनेमें इसे तीन वर्ष लग गए।

गत वर्ष मैं इसमें हाथ लगाने ही वाला था कि मेरे लब्ध-प्रतिष्ठ सहपाठी और मित्र पंडित कृष्णशंकर शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी० इस ट्रेनिंग कौलेज्में आए। उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थको लिख डालनेकी इच्छा प्रकट की। मैंने अपने पासकी सामग्री उन्हें दे डाली और समझा कि बोझ दूर हुआ। पुस्तकको

योग्य हाथोंमें सौंप देनेसे हर्ष भी हुआ। किन्तु गृहस्थीकी झंझटोंने उनके भी हाथ थाम लिए। बेचारी पुस्तक जहाँकी तहाँ रह गई। इधर मैं माँगनेमें सकुचाता था उधर पुस्तककी माँग बढ़ रही थी। विवश होकर मैंने ढिठाई की और वह सामग्री लौटानेकी उनसे प्रार्थना की। उन्होंने उदारतापूर्वक मुझे पुस्तक लिखनेकी आज्ञा दे दी। उनके इस सौजन्य और औदार्य्यका मैं चिर-ऋणी रहूँगा।

सामग्री पाकर अनेक बार मैंने योगस्थ होकर कार्य करनेका विचार किया किन्तु आकस्मिक बाधाओंने मुझे समाधि न लगाने दी। तब मैंने अपने परम स्नेही मित्र रुद्रजीका आवाहन किया। वे सुनते ही मेरी सहायताके लिये आपहुँचे। पुस्तककी रूप-रेखा, अध्याय-विभाजन, विषय-चयन आदिपर फिर नये सिरेसे विचार-विनिमय हुआ। परस्पर काम बाँट लिया गया और उन्होंने अपनी लेखनीसे इसका श्रीगणेश कर दिया। किन्तु इस वर्ष भगवानकी कुछ ऐसी अद्‌भुत इच्छा होगई कि उन्होंने गर्मी बढ़ा दी और काशीका तापमान १२० अंशोंतक पहुँच गया। मेरी और रुद्रजीकी बैठकें बहुत कम होने लगीं। पुस्तक छपनी ही थी अतः विवश होकर मुझे साढ़े तेरह अध्याय लिख डालने पड़े। इस प्रकार रुद्रजीके आश्रय और सहयोगसे पुस्तक पूरी हो गई। यदि वे सहायक होकर न आते तो पुस्तक लिखी भी जाती या नहीं यह निश्चय नहीं कहा जा सकता।

इस ग्रन्थमें मैंने यथासम्भव प्रामाणिक ग्रन्थों तथा अपने

और अपने मित्र अध्यापकोंके अनुभवोंका प्रयोग किया है। इसमें मैंने अध्यापनको कला-रूपमें प्रस्तुत करनेके साधन दिए हैं। अध्यापकको कक्षामें जानेके पूर्व क्या तैयारियाँ करनी चाहिएँ, कक्षामें प्रवेश करके पाठ्य-विषयको किस प्रकार आकर्षक, मनोहर एवं हृदयग्राही बनाना चाहिए, किस प्रकार छात्रोंके आदर, स्नेह तथा श्रद्धाका पात्र बनना चाहिए, किस प्रकार, कब और कहाँ कौन-कौन सी अध्यापन-विधियोंका सफलतापूर्वक प्रयोग करना चाहिए, किस प्रकार कक्षामें शील और विनयकी व्यवस्था करनी चाहिए, कैसे छात्रोंको किस प्रकार दण्डित या पुरस्कृत करना चाहिए, अध्यापकके समक्ष आनेवाली इन सभी कठिनाइयोंका मनोवैज्ञानिक विधान और समाधान किया गया है और सरल तथा सुबोध शैलीमें यह बतलानेका प्रयत्न किया गया है कि कोई भी अध्यापक किस प्रकारके आचरण तथा साधनासे लोकप्रिय तथा सफल अध्यापक हो सकता है। प्रस्तुत विषयको रोचक, विशद, सुबोध और स्पष्ट बनानेका भी भरसक प्रयत्न किया गया है। हमने अध्यापककी सफलताके लिये आवश्यक सभी विषयोंका समावेश कर दिया है फिर भी कुछ बातें रह गई होंगी। उदार पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे ऐसी सब बातें हमें लिख दें तो हम अगले संस्करणमें उनके औचित्यपर सहृदयतापूर्ण निष्पक्ष विचार करके उचित सुधार कर देंगे और उनके चिर कृतज्ञ रहेंगे।

मैं अपने मित्र श्री बजरंगबली गुप्त, विशारदका भी ऋणी

हैं जिन्होंने इस मँहगीके दिनोंमें, कागजकी महार्घता और दुष्प्राप्यताके युगमें इसको प्रकाशित करनेका भार लिया। इतना ही नहीं वरन् उन्होंने व्यक्तिगत रुचि दिखाकर इस ग्रन्थको शुद्ध और सुन्दर रूपमें प्रकाशित कराया है। फिर भी यदि कहीं मात्राएँ टूट गई होंगी या अन्य अशुद्धियाँ रह गई होंगी तो उन्हें विज्ञ पाठक सुधार ही लेंगे। इसके लिये क्षमा-याचना करनेका मिथ्या शिष्टाचार करना व्यर्थ है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थसे हिन्दी जाननेवाले अध्यापकोंका बड़ा कल्याण होगा।

उत्तरी बेनिया बाग,
रथयात्रा, संवत् १९९९ वि०

सीताराम चतुर्वेदी 'हृदय'
एम्० ए०, बी० टी०, एल्० एल्० बी०,
साहित्याचार्य्य,
प्राध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कौलेज्
काशी।

विषय-सूची

* श्रीगणेशाय नमः *

अध्यापन-कला

१

कला और अध्यापन

राजर्षि भर्तृहरिने अत्यन्त निर्भीकतासे कहा है कि कला-विहीन पुरुष उस पशुके समान है जिसे सींग और पूँछ नहीं। तनिक गहराईमें धँसकर देखा जाय तो उक्त उक्तिका खरापन अपने आप चमक उठे। यह तो मानी हुई बात है कि मनुष्य भी एक प्रकारका पशु ही है, यह दूसरी बात है कि वह चौपाया नहीं। जैसे घोड़ा, गाय, बकरी आदि पशुओंकी दो श्रेणियाँ हैं उसी प्रकार मनुष्य-पशुको भी। पशु दो प्रकारके हैं—पालतू और जंगली। मनुष्य भी दो प्रकारके हैं—सभ्य और असभ्य। असभ्य शब्द जंगली शब्दका ही संस्कृत रूप है। एक दिन वह भी था जब मनुष्य और पशु दोनों ही एक

साथ जंगलमें रहते थे। दोनोंके आहार-संचयन, शयन और भ्रमणका ढंग एक ही था। तब वस्त्रकी तो बात ही दूर थी, तबतक कानोंकी लालीका कारण लज्जा न होकर क्रोधयुक्त प्रतिहिंसा ही होती थी। जैसे अप्रकट क्रोधका नाम ईर्ष्या है उसी प्रकार संकोच-युक्त स्व-सौन्दर्यबोधका नाम लज्जा है। तबतक लज्जा नहीं थी अतः सौन्दर्य्य-बोध नहीं था। सौन्दर्यबोधका फल है कलाकी उत्पत्ति। तबतक सौन्दर्य-बोध नहीं था अतः कला भी न थी। कला-विहीन मनुष्यका नाम है पशु। तबतक कला नहीं थी अतः तब नर भी नरपशु था।

हम ऊपर कह चुके हैं कि कलाने मनुष्यों और पशुओंको ही अलग-अलग नहीं किया अपितु उसने दोनोंमें भी दो-दो भेद कर दिए। जैसे सभ्य मनुष्योंमें रहनेवाले पशु पालतू कहलाए उसी प्रकार जंगली जानवरोंके बीच रहनेवाले मनुष्य जंगली अथवा असभ्य। अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी इच्छा ईश्वरके काममें वृद्धि करती आई है। ईश्वरने जंगल बनाए, पशु बनाए और मनुष्य बनाए। मनुष्यने जंगलको बस्ती, पशुको मनुष्यवत् और अपने आपको ईश्वर बनाया और यह सब बनाया कलाकी सहायतासे। स्वप्न देखना निर्माण करना है, इच्छा करना बुलाना है और कल्पना करना वास्तविकताको जगाना है। मनुष्यने कलाकी कल्पना की अर्थात् अवास्तविकमें वास्तविकका विधान किया। दूसरी ओर पच्छिमके जानकारोंका कथन है कि कला कृत्रिम है। उन्होंने अपनी समझसे कलाकी कृत्रिमता प्रमाणित भी कर दी है। अनुमानके आधारपर उनके तर्कने ऐसी बातें तैयार की हैं जो प्रमाणके समान दीख पड़ती

हैं। उनकी इस भ्रान्तिका परिणाम बड़ा भयङ्कर हुआ। अज्ञानके अंधकारमें कलाका कोई अन्य उद्देश्य न दिखाई पड़ा अतः लोगोंने 'कला कलाके लिये'का भीषण नारा लगाया। इसका एक अवाञ्छनीय परिणाम यह हुआ कि आज योरोपमें कला सभ्यतासे सम्बन्ध रखनेवाली एक आडम्बर हो गई है।

हमारे यहाँ इसके एकदम प्रतिकूल कलाकी स्थिति सोद्देश्य है। हमारे यहाँ प्रकृतिका ही दूसरा नाम सत्य है। जो सत्य है वही मंगलमय है और जो मंगलमय है वही सुंदर है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' यद्यपि उपनिषद्वाक्य नहीं है तथापि भारतीय विचारसे कला क्या है इसकी यह सूत्ररूपमें परिभाषा है। कहा जाता है कि यह अँग्रेजीके दि ट्रू, दि गुड, दि ब्यूटीफ़ुल'का अनुवाद है और कवीन्द्र रवीन्द्रके पितामह-द्वारा ब्रह्म-समाजमें व्यवहृत हुआ और वहाँसे फ़ैशनके रूपमें इसने अच्छा प्रचार पाया। जो हो, पर कलाके सम्बन्धमें यह वाक्य जब उद्धृत किया जाता है तो हम इसे कलाकी परिभाषा ही मान लेते हैं। कला क्या है। जो सत्य है—सत्याभास नहीं, सत्यकी छाया नहीं—एकदम सत्य है, शुद्ध सत्य है, वही कला है। कलाकी सृष्टि मंगलको पुष्ट करनेके लिये हुई है, नष्ट करनेके लिये नहीं। जिस कलासे हमारा अशुभ होता हो वह कला नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। फाँसी चाहे जितने कलात्मक ढंगसे दी जाय, है तो वह फाँसी ही। कलाका जितना सत्य होना आवश्यक है उतना ही शुभ होना भी। जिससे अपना शुभ होता है उससे मुँह फेर लेनेवाले प्रायः पागल कहलाते हैं। समझदारोंकी दृष्टिमें जिससे अपना शुभ होता है उससे

बढ़कर सुन्दर कुछ नहीं। 'कला कलाके लिये' नहीं हमारे कल्याणके लिये है। जिस नथसे नाक कटती हो उसे पहने रहना मानसिक स्वस्थताका लक्षण नहीं है।

कलाकी उत्पत्तिका यही कारण कला शब्दकी व्युत्पत्ति करनेसे भी समझ पड़ता है। 'कं' संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ होता है आनन्द और प्रकाश, और 'ला' धातुका अर्थ है लाना। अतः 'कला'का अर्थ है वह क्रिया या शक्ति जो आनंद और प्रकाश लाती हो। आनंददायक होनेके लिये रमणीय होना आवश्यक है। रमणीयताकी एक पुरानी परिभाषा अपने यहाँ है—

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

अर्थात् प्रतिक्षण जो नवीनताका रंग रखती है उसे रमणीय कहते हैं। नवीनता प्रकाश देती है, नवीनता आनन्द देती है, अतः कला ज्ञानका प्रकाश करती है। सत्य ज्ञान है, असत्य अज्ञान। ज्ञान मंगलमूल है, कला मंगलमयी है। कला रमणीय है इसलिये सुन्दर है। सहृदय अँगरेज़ कवि कीट्सने भी कहा है—

'ए थिङ्ग ऑफ़ ब्यूटी इज़ ए जौए फ़ौर एवर'

अर्थात् सुंदर वस्तु शाश्वत आनन्द देती है। कला सत्य है, शिव है, सुन्दर है।

जंगली जानवरोंके बीच सत्यकी खोज शिकारकी खोज तक ही परिमित रही। उसके आगे अन्धकार था, अज्ञान था। सोते-जगते, उठते-बैठते, चौबीसों घंटे इस बातकी आशंका कि अब शेर झपटा, अब बाघने धावा मारा, कल्याणकी, शुभकी और मंगलकी सूचक नहीं है। जो स्थान हमारे लिये सदा अरक्षित है वह हमें भव्य ही कब लगने लगा। ऐसी ही

परिस्थितियों के कारण वनवासी मनुष्यने जंगलको अपना आखेटस्थल मात्र बनाकर अपने रहनेके लिये बस्तियोंका निर्माण किया। कला उसके सहायतार्थ प्रस्तुत थी। आँधी-पानी, धूप-सर्दी, चोर-डाकूसे सुरक्षित रहनेके लिये कलाकी सहायतासे मनुष्यने घर बनाया। ऐसी अवस्थामें कला मनुष्यके लिये अतीव उपयोगी सिद्ध हुई। कलाका उपयोगी अंश जहाँ समाप्त हुआ वहीं उसके ललित पक्षका आरंभ मानना चाहिए। इस प्रकार कलाके दो विभाग हो गए। एक उपयोगी कला दूसरी ललित कला। मानव-समाजके जिस समूहने बोलने-चालने, उठने-बैठने, आने-जाने, खाने-पीने आदि साधारण व्यवहारमें जितनी ही कला-कुशलता दिखलाई वह उतना ही सभ्य कहा गया। इस प्रकार धीरे-धीरे कला हमारे जीवनके प्रत्येक अङ्गमें घुलमिल गई, हमारे लिये अनिवार्य्य हो गई।

इसी स्थलपर हमें यह भी देख लेना चाहिए कि जीवनमें अध्यापनका क्या स्थान है। अध्यापनका कारण और परिणाम अध्ययन है जिसका एकमात्र कार्य्य जीवनको जीने योग्य बनाना है। अध्यापनका प्रयोजन ही यह है कि वह कमसे कम समयमें हमारे सुप्त संस्कारोंको जगाकर हमें इस योग्य बना दे कि हम सरलतापूर्वक विघ्न-बाधाओंको दूर करते हुए स्वच्छन्द, आनन्दसे जीवन व्यतीत कर सकें। इस सम्बन्धमें यह प्रश्न उठ सकता है कि अध्यापनका कौनसा मार्ग पकड़ा जाय जिससे उक्त उद्देश्यकी सिद्धिमें सफलता मिले। कुछ शिक्षा-शास्त्री कहते हैं और विचार करनेसे प्रतीत होता है कि वे ठीक ही कहते हैं कि हमारे अध्यापकोंमें पंचानवे

प्रतिशत व्यक्ति ऐसे हैं जिनके लिये अध्यापनका पवित्र और महान् कार्य उस व्यवसायसे अधिक महत्त्व नहीं रखता जो साधारणतया लोगोंके पेट पालनेका साधन होता है। वे व्यक्ति कौलेजसे निकलनेपर पहले डिप्टी कलेक्टरीकी प्रतियोगिता-परीक्षामें सम्मिलित होते हैं, वहाँ असफलता हाथ लगनेपर क़ानूनकी ओर झुकते हैं। कुछ दिन कचहरीकी धूल छाननेके बाद औफिसोंका चक्कर लगाते हैं, वहाँसे धक्के खाकर अन्तमें ट्रेनिङ्ग कौलेजोंके प्रिन्सपलोंके द्वारपर धरना देते हैं, ट्रेण्ड हो जानेपर अध्यापकके गौरवान्वित आसन पर बैठ जाते हैं। परन्तु वहाँपर भी उनका अधिकांश समय परस्पर रागद्वेषसे प्रेरित होकर एक दूसरेके विरुद्ध षड्यंत्र करनेमें बीतता है। ऐसे लोगोंको तो तुरंत ही शिक्षाके पवित्र मंदिरको दूषित करनेका जघन्य पाप करना छोड़कर राजनीति-विभागमें सेंध लगानी चाहिए। ये व्यक्ति अध्यापनका दायित्व नहीं जानते। केवल किसी प्रकार कोर्स समाप्त करना इन्होंने सीखा है। ये कलाविद् नहीं हैं इसलिये इन्हें पूरा-पूरा सभ्य न समझना चाहिए।

पहले ही यह कहा जा चुका है कि कला सभ्य मनुष्यके जीवनमें ओतप्रोत रहती है। कलाविहीन जीवन सभ्य जीवन नहीं। ऐसी अवस्थामें जब कि कलाकी आवश्यकता उठने, बैठने, बोलने तकमें पड़ती है तब अध्यापन जैसे महत्त्वके कार्यमें वह कितनी आवश्यक है इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

अध्यापनका कार्य अत्यन्त कठिन है। जो कुछ हम जानते हैं,

जो कुछ हम अनुभव करते हैं उसे कच्ची बुद्धि और कच्ची अवस्थाके बालक ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर लें यही अध्यापनकी सफलता है और यह सफलता कलाकी सहायताके बिना सम्भव नहीं। कलात्मक अध्यापनसे नौ दिनका मार्ग तीन दिनमें पूरा होता है। इससे शक्ति, श्रम और समयकी बचत होती है।

कलात्मक अध्यापन और कामचलाऊ अध्यापनमें आकाश-पातालका अन्तर है। कामचलाऊ अध्यापन नीरस और उच्चाटन करनेवाला होता है। कलात्मक अध्यापन आकर्षक और आनन्ददायक होता है। पहला बलप्रयोगसे किसीको दबानेके समान है। दूसरा स्वेच्छासे आत्मसमर्पण करनेके लिये प्रेरित करता है। पहला चिरायतेका काढ़ा है जिसे देखकर प्रौढ़ भी मुँह बिचकाते हैं। दूसरा शर्करावेष्टित क़ुनैनकी गोली है जिसे बच्चे भी खानेके लिये चावसे लपकते हैं। लोगोंने प्रायः लड़कोंको यह कहते सुना होगा कि अमुक अध्यापक अच्छा पढ़ाते हैं और अमुक अध्यापकके पढ़ानेमें मज़ा आता है। जिस अध्यापकके पढ़ानेमें मज़ा आता है उसी अध्यापकका अध्यापन कलात्मक है इसमें कोई सन्देह नहीं। आनन्दकी उत्पत्ति रमणीयतासे होती है। रमणीयता नवीनतामें है। नवीनता कौतूहलवर्द्धक होती है। कौतूहलवाली वस्तु जिज्ञासा उत्पन्न करती है। जब जिज्ञासा उत्पन्न होती है तभी उसकी निवृत्तिके समय चित्त एकाग्र होता है। चित्त एकाग्र होनेपर ही ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है। अध्यापनका उद्देश्य ज्ञानकी प्राप्ति कराना है। ऐसी अवस्थामें अध्यापनका कलात्मक होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य भी है।

२

कलाकार और अध्यापक

अभी यह बतलाया जा चुका है कि अध्यापनका सम्बन्ध कलासे है, विज्ञानसे नहीँ। विज्ञान केवल सत्यतासे सम्बन्ध रखता है। उसका कार्य इतना ही है कि वह किसी वस्तुके सत्य स्वरूपका परिचय हमेँ करा दे। वस्तु-विशेष बीभत्स है और हमारे हृदयमेँ जुगुप्साका भाव पैदा करती है इसीलिये विज्ञान उसकी वीभत्सतापर परदा डालनेके लिये तैयार नहीँ। हमारे लिये कला ही यह कष्ट उठानेको तैयार होती है। सुदर्शन स्वरूपका दर्शन कर कलाविद् मुग्ध हो जाता है और वर्णन कर चलता है कि आँख रसीली है आमकी फाँक जैसी, अधर-रक्ताभ हैँ बन्धूक-पुष्प जैसे, दंत-पंक्ति स्वच्छ है, दूधसे धोई हुई। पर वैज्ञानिककी दृष्टि यह सब नहीँ देखती। रसीलीसे रसीली आँखका वर्णन करनेके लिये भी उसके पास दस-पाँच ही शब्द हैँ, वह इतना ही कह सकता है कि आँखकी बनावट ऐसी है, उसका अमुक भाग 'लेन्स' कहलाता है, अमुक भाग 'कौर्निया' और अमुक भाग 'इरिस' इत्यादि।

सुन्दरसे सुन्दर दाँतोँका मूल्य वैज्ञानिकके समीप हड्डियोँसे अधिक नहीँ। विज्ञान कभी-कभी हमारे कल्याणके लिये पर प्रायः हमारे विनाशके लिये एकसे एक बढ़कर साधन प्रस्तुत करता है। उन साधनोँकी सत्यतामेँ कोई तिलभर

भी संदेह नहीं कर सकता। पर सौन्दर्यकी खोज करना विज्ञानका काम नहीं। आषाढ़के महीनेमें मेघका दर्शन करनेपर कालिदास मेघदूत बना सकते हैं। सघन घनकी गोदमें विमल बिजलीका विकल नृत्य देखकर कलाविद् यह भी कहनेका साहस कर सकता है कि सारा आकाश वृन्दावन सा है जिसमें घनश्यामकी गोदमें राधाके समान सौदामिनी शोभा पा रही है। पर इस सम्बन्धमें बेचारा वैज्ञानिक समुद्र, सूर्य्य, गर्मी, भाफ, वायु आदि कुछ शब्द कहकर ही संतोष कर लेता है। यदि विज्ञान और कलाका कविके शब्दोंमें अन्तर बतलाएँ तो यों कहेंगे—

सत्य सदा शिव होनेपर भी विरूपाक्ष ही होता है।
किन्तु कल्पनाका मन केवल सुंदरार्थ ही रोता है।

कला और विज्ञान तथा कलाकार और वैज्ञानिकमें अन्तर बतला देनेपर यहाँ कलाकारके गुणोंकी संक्षिप्त सूची दे देना भी अनुचित न होगा। अध्यापक भी कलाकार ही है। अतः जो गुण प्रकृत कलाकारमें होता है वही अध्यापकमें भी। कलाकार मानव-समाजका विचारक है। समस्त मानवोंकी ओरसे वह विचार करनेका कार्य करता है। वह सोचता है, विचारता है और सतत मनन करनेके पश्चात् मानव-समाजके हितके लिये सत्य और कल्याणकारी सिद्धान्तोंका निर्णय और प्रतिपादन करता है। ठीक यही काम अध्यापकका भी है। वह भी भावी पीढ़ीको सत्य, सुंदर और कल्याणकारी विचारोंकी शिक्षा देकर उसके भविष्यको उज्ज्वल बनाता है।

जिस प्रकार कलाकार मानव-जातिका पथप्रदर्शक है उसी

प्रकार अध्यापक भी। वह बतलाता है कि किस राजमार्गपर चलनेसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, जीवनकी कौन सी दिशा अथवा दशा ऊबड़खाबड़, टेढ़ी-मेढ़ी और कंटकाकीर्ण है तथा कौन सा मार्ग सुरक्षित, स्वच्छ और सुन्दर है।

कलाकारकी ही तरह अध्यापक भी मनुष्योंका मित्र है। उसकी शिक्षाएँ सच्चे मित्रके समान आपत्तियोंसे बचाती हैं, हमारे गाढ़े समयमें काम आती हैं। यही कारण है कि अध्यापक अपने विद्यार्थियोंका गुरु ही नहीं अपितु विचारक, पथ-प्रदर्शक और मित्र भी है।

इसके अतिरिक्त अध्यापकमें कुछ अन्य गुणोंकी संस्थिति भी अनिवार्य्य ही माननी चाहिए। इन वाञ्छनीय गुणोंमें सबसे महत्त्वकी वस्तु अध्यापकका व्यक्तित्व है। अध्यापकका व्यक्तित्व ऐसा होना चाहिए कि उसपर दृष्टि पड़ते ही विद्यार्थी उसे अपने आदर और विश्वासका पात्र समझने लगें। अध्यापककी मुद्रा न तो ऐसी भयङ्कर हो कि विद्यार्थी उसे तातारी सेनाका सर्दार समझकर भयभीत हो उठें और न ऐसी ढुलमुल ही होनी चाहिए कि पाठशाला भरमें उसे 'कुम्हड़ बतिया'की उपाधि मिल जाय। संक्षेपमें अध्यापकका व्यक्तित्व माताके समान प्रेमवर्द्धक, मित्रके समान विश्वासोत्पादक और कभी-कभी पिताके समान त्रासक भी होना चाहिए।

व्यक्तित्व यद्यपि भाववाचक संज्ञा है तथापि उसके अन्तर्गत शारीरिक बनावटकी बात भी आ जाती है। इसीलिये तो प्रायः सभी शिक्षाशास्त्री इस विषयमें एकमत हैं कि अध्यापकको सुदर्शन होना चाहिए। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि

अध्यापकको सुन्दरतामें कामदेव अथवा स्वामिकार्तिक ही होना चाहिए। अधिकसे अधिक इसका अर्थ यही है कि अध्यापक शरीरतः अष्टावक्र न हो कि उसे देखते ही विद्यार्थी हँसते-हँसते विक्षिप्त हो उठें। लँगड़े, काने, पंगुल अथवा अंधे अध्यापक कदापि वाञ्छनीय नहीं। अतः नियमतः विकलांग व्यक्ति अध्यापक न बनाए जायँ किन्तु जो अध्यापक विद्वत्ता अथवा किसी विशिष्ट गुणके कारण लोकप्रिय अथवा प्रतिष्ठित हो गए हों वे इस नियमके अपवाद हो सकते हैं।

अध्यापकमें व्यक्तित्वके पश्चात् जिस गुणकी सबसे अधिक आवश्यकता है वह है उसका विद्यार्थियोंसे सहानुभूतिमय व्यवहार। यदि व्यक्तित्व अध्यापकको विद्यार्थियोंका विश्वास-भाजन बनाता है तो सहानुभूतिमय व्यवहार विद्यार्थियोंके हृदयमें अध्यापकके प्रति गहरा आदरका भाव उत्पन्न करता है। पहले यह कहा जा चुका है कि अध्यापक विद्यार्थियोंका मित्र होता है। यह मित्रता तभी पक्की हो सकती है जब अध्यापक विद्यार्थियोंसे सहानुभूतिमय व्यवहार करे। ऐसा व्यवहार करनेसे विद्यार्थी अध्यापकको घरका प्राणी समझने लगते हैं। उससे अपनी भली-बुरी कोई भी बात छिपाते नहीं। उसकी सम्मतिपर विश्वास करते हैं। इस प्रकार अध्यापक विद्यार्थियोंके चरित्रगठनका महत् कार्य करनेमें सफलता पा जाता है।

इसके अतिरिक्त अध्यापकको अपने विषयका गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। विद्यार्थी अध्यापकको बातको वेदवाक्य मानते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि छिछले ज्ञानवाला अध्यापक

विद्यार्थियोंके मनमें किसी भ्रामक सिद्धान्तका बीज बो देता है तो सदाके लिये वह भ्रामक विचार जड़ पकड़ लेता है और उसे दूर करनेके लिये भारी परिश्रम और गहरे अभ्यासकी आवश्यकता पड़ जाती है।

इस सम्बन्धमें दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि छिछली विद्या-बुद्धि रखनेवाला अध्यापक विद्यार्थियोंकी अश्रद्धाका पात्र तथा उनके व्यंग्य बाणोंका लक्ष्य बन जाता है। प्रारंभिक कक्षाओंमें तो नहीं पर बड़ी कक्षाओंमें ऐसे अध्यापकोंकी बड़ी दुर्गति होती है। स्वाभिमान तो ग्लानिका कोड़ा फटकारकर उसे भाग निकलनेका संकेत करता है पर स्वार्थ उसे परिस्थितिके सम्मुख झुक जानेके लिये विवश करता है। मेरी जानकारीमें एक कौलेजमें एक अध्यापक हैं, वे देखनेमें भी बहुत बुरे नहीं हैं, उनका व्यवहार भी सहानुभूतिपूर्ण ही कहा जाता है पर अपने विषयका सम्यक् ज्ञान न रखनेके कारण उनके पूर्वोक्त दोनों गुण भी अवगुणमें सम्मिलित कर लिए गए हैं। उनकी स्वच्छ और सुंदर वेषभूषा उनके लिये गुण्डेकी उपाधि प्राप्त करती है और उनका सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार उनके दब्बूपनका लक्षण माना जाता है। इसी एक अवगुणने उनके शेष गुणोंपर पानी फेर दिया है।

इस विषयमें तीसरी विचारणीय बात यह है कि सौमें निन्यानवे अभिभावक केवल अध्यापककी विद्या-बुद्धि ही देखते हैं। भले ही अध्यापक एक कान, एक आँख, एक हाथ और एक पाँवसे हीन हो, भले ही उसके विद्यार्थी उसे द्वितीय यमराज ही समझते हों, पर यदि अपने विषयपर उसका

अधिकार है तो बहुतसे लोग उसके पूर्वोक्त अवगुणोंको देखकर भी न देखेंगे, आँखें मूँद लेंगे, तरह दे जायँगे। अतः अध्यापकको अपने पाठन-विषयपर पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

अध्यापकका जीवन आदर्श होना चाहिए। उसे ऐसा जीवन बिताना चाहिए जो स्वतः दूसरोंके लिये आदर्श हो, जिसे देखकर अन्य लोग शिक्षा ग्रहण करें। अध्यापकका जीवनका ऐसा आकर्षक होना चाहिए कि देखनेवालोंके मनमें उसका अनुकरण करनेकी प्रवृत्ति स्वतः जग जाय। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जीव बहुत सी बातें केवल अनुकरणके बलपर सीख लेता है। सिंह-शावकको आखेट करनेकी शिक्षा नहीं देनी पड़ती। वह यह काम अनुकरणके द्वारा ही कर लेता है। इसी प्रकार मानव-शिशु भी अनुकरणसे ही खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना आदि सीखता है। इतना ही नहीं, अनुकरण मनुष्यकी सहज वृत्ति है। छोटे छोटे बच्चे भी अपने पिता, पितामह आदि गुरुजनोंकी भाँति ही कपड़ा पहनना चाहते हैं। उन्हींकी भाँति चलते, फिरते और बातचीत करते हैं। बहुतसे बालकोंमें चिल्ला-चिल्लाकर बोलनेका अभ्यास होता है। यह अभ्यास उनमें कहाँसे आया इसका पता ऐसे बालकोंके अभिभावकोंको देखनेसे तुरन्त लग जाता है। बहुतसे घरोंमें बालक अपने पिताको बाबूजी न कह कर चाचा, काका, या दादा कहते हैं। यह कहनेकी शिक्षा उन्हें कोई देता नहीं, वे अनुकरणसे ही सीख लेते हैं। धनी घरोके बालक उच्छृङ्खल होते

हैं। शिष्ट परिवारके बालक शिष्ट होते हैं। अनुकरण ही इसका मूल कारण है। मनुष्य-जीवनमें अनुकरण बड़े महत्त्वकी वस्तु है। अद्वितीय मनोविज्ञान-विद् भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थात् बड़े लोग जिस प्रकार व्यवहार करते हैं उसी प्रकार अन्य लोग भी। बड़ोंको ही प्रमाण मानकर लोग उनका अनुकरण करते हैं। इस स्थलपर ये दो बातें भी स्मरण रखनी चाहिएँ कि एक तो बालक अत्यधिक अनुकरणशील होता है और दूसरे भली बातोंकी अपेक्षा बुरी बातोंका अनुकरण शीघ्र तथा सुगमतासे करता है। ऐसी दशामें यदि अध्यापकका जीवन आदर्श न हुआ तो विद्यार्थियोंका जीवन सदाके लिये नष्ट हो जा सकता है।

इसीके साथ यह भी जान रखना चाहिए कि सौ सिद्धान्त-प्रतिपादनकी अपेक्षा एक कार्य्य-सम्पादन कहीं अधिक महत्त्वका होता है।

अध्यापकके गुणके सम्बन्धमें अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि उसे साधारण दैनिक व्यवहारमें अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए। उसकी आदत फूहड़ न होनी चाहिए। जेबमें हाथ डालकर पढ़ाना, पढ़ाते समय आँखें मटकाना, हाथ फटकारना, पैर हिलाना, अँगुलीसे नाक खोदना, उँगलियोंके नख दाँतोंसे कतरना, सखुनतकिएका भीषण भक्त होना आदि बातोंकी गणना फूहड़पनके ही अन्तर्गत होती है।

अध्यापकोंको, विशेषतः नवीन अध्यापकोंको, इन बातोंसे बहुत सावधान रहना चाहिए।

क्रमकी दृष्टिसे अन्तमें पर महत्त्वकी दृष्टिसे सबसे पहले अध्यापकमें जो गुण लोग देखना चाहते हैं वह है उसके चरित्रकी दृढ़ता। दृढ़ चरित्र सदैव निर्मल होता है। उसकी निर्मलता सम्पर्कमें आनेवालोंका चरित्र भी निर्मल कर देती है। पर चरित्रकी निर्मलताके सम्बन्धमें कुछ अधिक विचार करनेके पूर्व यह समझ लेना असंगत न होगा कि चरित्र है क्या वस्तु। जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य अनवरत कुछ न कुछ करता रहता है। प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ करते रहना मनुष्यका आचरण कहलाता है। उसके जीवन भरके आचरणको उसका चरित कहते हैं। मनुष्यको कोई विशेष आचरण करनेके लिये प्रेरित कर जो वस्तु उसका चरित बनाती है उसे चरित्र कहते हैं। चरित्रका सम्बन्ध मानव प्रकृति या स्वभावसे होता है। शेष सृष्टिके प्राणियोंके सम्पर्कमें आकर विविध परिस्थितियोंमें मनुष्य जैसा व्यवहार करता है तदनुसार उसका चरित्र जाना जाता है। चरित्र जीवनमें बड़े महत्त्वकी वस्तु है। किसीने कहा है कि यदि धन नष्ट हो गया तो कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। यदि स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो कुछ अवश्य नष्ट हुआ। पर जब चरित्र नष्ट हुआ तब सर्वस्व नष्ट हो गया। चरित्रका सम्बन्ध हमारे आत्मासे है। जिसका चरित्र दुर्बल होता है उसका आत्मा दुर्बल होता है। दुर्बलात्मा दुर्बलकाय होता है। सांसारिक झंझटोंके झंझावातमें दुर्बलकाय प्राणी तिनके-सा मारा मारा फिरता है। दुर्बलकाय प्राणी आत्म-

विश्वास-खो बैठता है। विश्वासका अभाव पगपगपर संदेहकी सृष्टि करता है। और संशयात्मा प्रणश्यति, संशयात्माका नाश हो जाता है।

इसके विपरीत दृढ़ चरित्रवाला मनुष्य भारीसे भारी आपत्तिका सामना करनेमें भी कुंठित नहीं होता। उसका चरित्र-बल उसमें उत्साह और स्फूर्ति तथा साहस और आशाकी वह बिजली फूँक देता है कि बाधाएँ उसके मार्गसे स्वयं हट-बढ़ जाती हैं। कलुष भी उसके सम्पर्कमें आकर उज्ज्वल हो जाता है। उसका सत्व सदा तेजस्वी रहता है, किसी भी परिस्थितिमें संकुचित नहीं होता।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य अनुकरणशील होता है। ऐसी अवस्थामें यदि अध्यापक शुद्ध चरित्रका न हुआ तो विद्यार्थियोंका चरित्र भी शिथिल हो जायगा। वैसे तो चरित्रकी दुर्बलता सभीमें अवाञ्छनीय है परन्तु यदि किसी अध्यापकमें हुई तब तो वह देश और जातिके लिये अत्यन्त भयानक होती है।

दूसरी ओर शिक्षाका एक महान् उद्देश्य चरित्र-निर्माण भी है। अब जो स्वयं बिगड़ा हुआ है वह दूसरेको क्या बनावेगा। जब अध्यापक का ही चरित्र नहीं बना है तब वह अपने विद्यार्थियोंका चरित्र कैसे बनावेगा और शिक्षाके उक्त उद्देश्यकी सिद्धि कैसे होगी। इन बातोंपर विचार करते हुए हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चरित्रहीन अध्यापक चाहे वह सोनेका ही क्यों न हो मारीच ही है, अतः वह त्याज्य है।

१

कलाकारके चित्रफलक—छात्र

अध्यापकके आवश्यक गुणोंका बखान कर लेनेपर यह बताना भी आवश्यक है कि उसे अपनी कलाका प्रयोग किनपर और किस प्रकार करना चाहिए।

यदि हम अपने कलाकारके रूपकको फिरसे उठावें तो हमें समझानेमें सरलता होगी। चित्रकार अपने चित्र काग़ज़पर, कपड़ेपर, लकड़ीपर, भीतपर तथा अन्य ऐसे ही किसी पदार्थपर बनाता है। अपनी तूलिका और रंगोंसे वह उन कोरे पट्टोंको सजीव, आकर्षक और मूल्यवान् बना देता है। अध्यापकका भी काम यही है कि जो बच्चे उसके हाथमें आवें उन्हें वह सजीव, आकर्षक और मूल्यवान् बना दे। जैसे कुम्हार मिट्टीके पिण्ड बनाता है और फिर चाकपर घुमाकर अपनी कला और इच्छाके संयोगसे वह उस पिंडसे मानवजातिके सुखके लिये अनेक पात्र बना देता है वैसे ही अध्यापकका कर्तव्य है कि वह अपने छात्रोंको लोक-सुखकारी सुपात्र बना दे।

बालक तो सजीव होते ही हैं फिर उन्हें सजीव बनानेसे क्या प्रयोजन है। सजीवका अर्थ यह है कि उन्हें देखकर यह न प्रतीत हो कि ये मुहर्रममें पैदा हुए हैं, कई दिनोंसे खाना नहीं खाया है, अभी पिटके आए हैं, किसीने

वस्ता छीन लिया है, नशा पीकर आए हैं या घरसे निकाल दिए गए हैं। इसके विपरीत, बालक ऐसे बन जायँ कि मुस्कराहट उनकी शाश्वत संपत्ति बन जाय, उनके अंग-अंगमें उल्लास भरा हुआ हो, यह जान पड़े कि खंजनके समान अब उड़नेवाले ही हैं, जो काम कहा जाय उसके लिये कमर कसे तैयार, इधर कहा उधर काम हुआ।

आकर्षक शब्दका अर्थ भी यह नहीं है कि बालक सुन्दर, रंगीन, बहुमूल्य कपड़े पहने हुए हों, गुलाबजलसे उन्होंने स्नान किया हो, उनके कपड़े इत्रमें बसे हों, बाल सँवारे हुए हों। इसका अर्थ यही है कि उनकी सरलतामें एक जादू हो कि एक बार दृष्टि पड़ते ही नेत्र वहीं ठहर जायँ। अर्थात् उनकी बोलचाल, उठने-बैठनेका ढंग, उनका वेश, उनकी प्रत्येक गति ऐसी व्यवस्थित, संयत और सुसंस्कृत हो कि वे दूसरोंके लिये आदर्श रूप हों। देखनेवालोंकी भी इच्छा हो कि हम इन्हीं बालकोंके समान उठ, बैठें, बातें करें।

तीसरी बात है मूल्यवान्। आजकल लोग अपने बच्चोंको शिक्षा देते समय इस बातका बड़ा विचार करते हैं कि बालक पढ़-लिखकर कितना कमावेगा, उसे कितनेकी नौकरी मिलेगी। नौकरीके वेतनके अनुसार वे बालक और पढ़ाईका मोल आँकते हैं। पर यह भी एक स्वार्थपूर्ण भौतिक दृष्टि है जिसके आधार-पर ईश्वरतुल्य बालककी जाँच नहीं करनी चाहिए। मूल्यवान्से हमारा तात्पर्य यह है कि बालकमें ऐसे गुण आजावें कि देश उसे अपनी अमूल्य संपत्ति समझे, जाति उसे अपना शिरोभूषण समझे, माता-पिता उसे अपनी आँखोंका तारा

समझे, समाजका प्रत्येक व्यक्ति उसे अपनानेमें अपना गौरव समझे। ये गुण हैं, सदाचार, सत्यता, निर्भीकता, आत्मत्याग, संयम और सेवा-बुद्धि। यदि अध्यापकने अपने उदाहरण, उपदेश और शिक्षासे बालकोंमें ये गुण नहीं भरे तो उसने अपना और बालकोंका दोनोंका समय नष्ट किया, देशके साथ कृतघ्नता की और अध्यापनके पवित्र कार्यको कलुषित किया।

कहनेको तो ये बातें बड़ी सरल हैं किन्तु करनेमें बड़ी कठिन हैं। इस विषयमें चित्रकार और अध्यापकमें बड़ा अन्तर हो जाता है। चित्रकारको स्वच्छ, चिकना, मोटा कागज, कपड़ा या काठका पट्टा मिल जाता है और उसे केवल रंगमें डूबी हुई तूलिका चलाने भरकी देर होती है। किन्तु अध्यापक बेचारेको बड़े संकटका सामना करना पड़ता है। उसके छात्र कोरे श्वेत कागज नहीं होते। उसे अनेक प्रकारके बालकोंसे पाला पड़ता है। एक ओर तो उसे माँ-बापके दुलारमें बिगड़े हुए, मारने-पीटनेसे कुंठित बुद्धिवाले, ठेठ गाँवके अबोध-मंडलमें पले हुए, कुसंग और कुमित्रोंद्वारा बिगाड़े हुए, क्रोधी, पागल, बकवादी या लड़ाकू माता-पिताओंके संसर्गमें रहनेवाले, मूर्ख, नटखट या सनकी बालकोंसे काम पड़ता है और दूसरी ओर सभ्य, सुशील और शिक्षित परिवारोंमें पले हुए कुशाग्र-बुद्धि, प्रसन्नचित्त बालक मिलते हैं। उसे ऐसे पट्टोंपर चित्र बनानेका काम दिया जाता है जिनपर या तो मैल चढ़ी हो, धब्बे पड़े हों या जिनपर पहलेसे कुछ चित्र बने हुए हों। ऐसी अवस्थामें अध्यापक घबरा जाता है, पागल हो उठता है, झल्ला जाता है और इस आवेशमें वह अपना कर्तव्य भूलकर

पहली प्रकारके छात्रोंके लिये तो बाँसके डंडे, बेंत या शहतूतकी कमचीका आश्रय लेता है और दूसरे प्रकारके छात्रोंकी ओरसे वह उदासीन हो जाता है, आँखें मूँद लेता है। परिणाम यह होता है कि उसके सभी चित्र भद्दे उतरते हैं।

अतः अध्यापकका सर्वप्रथम कर्तव्य तो यह है कि वह अपने संपर्क में आनेवाले बालकोंके सम्बन्धमें सब बातें भली प्रकार जान ले। वह कहाँसे आया है, किस वातावरणमें उसका पालन-पोषण हुआ, किसकी संगतिमें रहा, घरपर उसके साथ कैसा व्यवहार होता है, घरकी दशा कैसी है इत्यादि उस बालकके सहज और संसर्ग-जन्य संस्कारोंका पूरा ब्यौरा उसके पास रहना चाहिए और यह ब्योरा रखकर उसे यह निश्चय करना चाहिए कि इनमेंसे कौनसा संस्कार रगड़कर दूर कर देना चाहिए और किस संस्कारको कौनसे रंगसे रँगकर अधिक उज्ज्वल तथा प्रकाशमान बना देना चाहिए।

यह कार्य अत्यन्त कठिन यहाँतक कि असम्भव सा ही जान पड़ता है। अध्यापक सहस्राक्ष नहीं है, सहस्राबाहु भी नहीं है और उसमें अलौकिक शक्ति भी नहीं होती। वह एक मनुष्य ही तो है, दो आँखों, दो हाथों-पैरोंवाला। वास्तवमें जिस अध्यापकको नित्य पाँच या छः कक्षाओंमें डेढ़सौके लगभग छात्रोंको पढ़ाना पड़ता हो, कापियाँ देखनी पड़ती हों, रजिस्टर भरने पड़ते हों और सन्ध्याको खेल भी खिलाना पड़ता हो उसके लिये यह काम कुछ कठिन ही जान पड़ता है। किन्तु जहाँ इच्छा होती है वहाँ साधन भी मिल जाते हैं। जो लोग कक्षाध्यापक होते हैं वे तो सरलतासे तीस या बत्तीस

छात्रोंके विषयमें पूरी जानकारी रख सकते हैं। योरोप और अमेरिकाके कुछ स्कूलोंमें ऐसा प्रबन्ध है कि भरती होनेवाले प्रत्येक छात्रके सम्बन्धमें सभी ज्ञातव्य बातें पहलेसे जाँच ली जाती हैं और उसके पश्चात् उसकी मानसिक अवस्थितिके अनुसार उसकी शिक्षा-दीक्षा होती है। राजनीतिक दासताने हमें ऐसा पंगु बना दिया है कि हममें दायित्वकी भावना तो दूर रही, विचारनेकी शक्ति भी लुप्त हो गई। यदि अध्यापक-समाज मन, वचन और कर्मसे इस प्रकार छात्रोंके जीवनकी छानबीन कर सके तो स्कूलों और कालेजोंसे निकलनेवाले युवक निकम्मे, बेकार और चरित्रहीन न दिखाई पड़ें।

छात्रोंकी प्रकृति जाननेके पश्चात् अध्यापकको यह भी जान लेना चाहिए कि अभिभावककी इच्छाके साथ-साथ छात्रकी क्या इच्छाएँ हैं। वह बेंत देखकर काँप उठता है, लाल-लाल आँखें उसके उल्लास को ठंढा कर देती हैं, कठोर वचन उसके हृदयको चूरचूर कर देते हैं, असभ्य व्यवहार उसके आत्म-सम्मानको ठेस लगाते हैं और इस प्रकारके जघन्य कृत्योंको देखते-देखते, सहते-सहते उसे अभ्यास हो जाता है, उसका आत्मा चुपकेसे सो जाता है, आत्मसम्मान हवा हो जाता है, वह अपनी योग्यता और समर्थतामें सन्देह करने लगता है। मनुष्यका बच्चा धीरे-धीरे पशु बनने लगता है—मूक पशु—जिसे कोड़े मारते जाइए, वह चूँ तक न करेगा। ऐसे हत्यारे अध्यापकोंके हाथमें पड़े हुए बालक आगे चलकर निकम्मे, भीरु, चाटुकार और निरुद्यमी हो जाते हैं।

बालक भी कुछ आशा करता है। वह प्यार चाहता है।

वह आपकी लाल आँखें देखनेसे डरता है। आप अपनी मुद्रा बदल डालिए। वह आपके डंडेको शंकित नेत्रोंसे देखता है और कभी-कभी वह चाहता है कि इस डंडेको कहीं चुरा दिया जाय। तो आप ही अपने डंडेको अग्निसमाधि क्यों नहीं दे देते। वह आपके कसरती भुजदंडोंको देखकर काँप उठता है और भगवानसे सदा यही मनाता है कि आपके हाथ टूट जायँ। तो आप ही अपने हाथको वशमें रखिए। फिर वह यह भी चाहता है कि उसमें कुछ गुण आवें, वह भी संगी-साथियों पर रोब जमावे। पर आप तो उसकी बात ही नहीं सुनते, दुत्कार देते हैं। वह कुत्ता नहीं है, उसमें भी हृदय है। छोटा है तो क्या, वह भी अपने मानापमानको भली भाँति समझता है। जाइए वह आपके पास न आवेगा। जानते हैं आपने कितना भारी अपराध किया है। आपने एक ऊपर चढ़ते हुए बालकको उसकी टाँग पकड़कर नीचे खींच लिया है। उसकी टाँगें टूट गई हैं। अब वह ऊपर न चढ़ पावेगा। उसमें साहस नहीं रहा। वह सदाके लिये भयभीत हो गया।

पर वह कभी-कभी यह भी चाहता है कि पेड़ पर चढ़े, फल तोड़े और अपने साथियोंको भी खिलावे। आप क्या उसे पेड़ पर चढ़ने देकर उसे हाथ-पैर तोड़ने देंगे और चोरी सिखावेंगे। मैं जानता हूँ आप ऐसा कभी न चाहेंगे पर यदि उसके मनमें ऐसी भावनाएँ आई हैं तो उसका कारण कौन है। कारण भी तो आप ही हैं। यदि आप उसकी शक्तिको उचित मार्गपर न मोड़ेंगे और उसको अपनी शक्तिका प्रयोग करनेका उचित अवसर प्रदान न करेंगे तो वह अवश्य ही बेढंगे काम

करना प्रारम्भ कर देगा। शैतान उसकी बुद्धिमें पैठकर जो चाहेगा वह करावेगा।

अतः प्रत्येक अध्यापकको अपने छात्रोंके विषयमें पूरी जानकारी होनी चाहिए और उसे सदा यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि किन उपायोंसे उसके छात्रोंमें अच्छे संस्कार बढ़, बुरे संस्कार दूर हों और वे एकाग्रचित्त होकर उत्सुकताके साथ अध्यापक-द्वारा दिए जानेवाले ज्ञानका संचय करें।

४

कलाकारकी प्रयोगशाला—कक्षा

जिस प्रकार वैज्ञानिककी प्रयोगशाला वैज्ञानिक यन्त्रोंसे भरापुरा कक्ष होता है, जिस प्रकार चित्रकारकी प्रयोगशाला उसकी चित्रशाला है, जिस प्रकार अभिनेताकी प्रयोगशाला रङ्गमञ्च है उसी प्रकार अध्यापककी प्रयोगशाला उसकी कक्षा है। अध्यापक और अभिनेतामें जैसी वर्णमैत्री है वैसी ही, प्रयोगशालाका जहाँतक सम्बन्ध है, उनमें पूरी पूरी समानता है। भौंपर बल डाले, मस्तकपर वक्र रेखाएँ बनाए, आँखोंमें विचारशीलताकी ज्योति भर, गुरु गम्भीर भावसे वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें प्रवेश करता है। चित्रकार अपनी प्रयोग-शालामें मस्त होकर निर्भय प्रवेश करता है, रंग घोलता है, तूलिका उठाता है और धोता है, झाड़नसे चित्रफलकोंको झाड़-पोंछकर ठीक करता है और फिर कभी इधर कभी उधर घूमनेके पश्चात् एक फलकके पास बाँहें समेटकर मोढ़ेपर बैठ जाता है और उसकी तूलिका चलने लगती है।

परन्तु कक्षामें अध्यापकका प्रवेश उसी भाँति होता है जिस भाँति नट रङ्गमञ्चपर प्रवेश करता है। वह बड़ा साहस संचयकर, बड़े ढंगसे कक्षामें आता है। अपनी वाणी और गतिविधिका पूरा ध्यान रखते हुए वह आगे बढ़ता है। उसे

सदैव यह ध्यान रखना पड़ता है कि मैं कहीं कुछ भूल न जाऊँ, कुछका कुछ न कह जाऊँ। मेरी चुटिया टोपीके बाहर न झाँकती रहे। लोग मुझपर हँसे नहीं।

कक्षामें बहुतेरे ऐसे बालक होते हैं जिनकी दृष्टि अध्यापकके दोषों या उसकी त्रुटियोंपर ही लगी रहती है। मास्टर साहब कौन सा शब्द बारबार कहते हैं, कैसे उच्चारण करते हैं, यही वे देखते रहते हैं और जहाँ उनको छिद्र मिला कि उनकी नटखट वृत्ति जागरित हो जाती है और वे अपने उस ज्ञानको पंख लगाकर हवामें उड़ा देते हैं। मास्टर साहबकी कीर्ति रेडियोके बिना ही दिगन्त व्यापिनी हो जाती है।

जैसे अभिनेता वन्समोर, 'एन्कोर' (एक बार और फिरसे) के लिये सतत प्रयत्नशील होता है उसी प्रकार अध्यापक भी यही चाहता रहता है कि छात्र उसके पढ़ानेके ढंगकी प्रशंसा करें—'वन्स मोर' कहकर नहीं अपितु अपने मुखपर समझदारीकी आभा दिखलाकर, नेत्रोंमें प्रशंसाकी चमक झलकाकर।

अभिनेताकी भाँति ही अध्यापकको भी कक्षामें जो कुछ कहना और करना है उसकी सारी तैयारी पहलेसे ही कर रखनी चाहिए। उसे क्या पढ़ाना है, कितना पढ़ाना है, किस ढंगसे पढ़ाना है और कितनी देरमें पढ़ाना है इसका लेखा पहलेसे ही बनाकर रखना चाहिए। किस अवसरपर उसे कौनसी वस्तु अपने विद्यार्थियोंको दिखानी है इसपर उसे पूरा ध्यान देना चाहिए। ध्यान ही नहीं अपितु सारी सामग्री साथ ही रखनी चाहिए। मान लीजिए कक्षामें

पकको पढ़ाईके सम्बन्धमेँ कोई पद, कोई सूक्ति अथवा
कविता सुनानी है। यदि अध्यापक पहलेसे तैयार
है तो ठीक समयपर उसकी स्मरणशक्तिका धोखा दे
आश्चर्य की बात न होगी। फिर चाहे अध्यापक महोदय
धरनोंसे आँखें लड़ाएँ, चाहे मस्तकमेँ बल डालते
बालोंमेँ उँगलियोंसे कंघी करते हुए अपने मस्तिष्कको
पर रसभंग हो ही जायगा, वाग्धारा टूट जायगी,
ही हाथ लगेगा। ऐसी अवस्थामेँ सफल अध्यापक
लिये यह आवश्यक है कि पाठ पढ़ानेके पहले ही
उस पाठसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुएँ—मानचित्र,
आदि एकत्र करके ही कक्षामेँ प्रवेश करे। यह नहीँ कि
लगी तब कुँआ खोदनेके लिये मज़दूर खोजने दौड़े।
सम्बन्धमेँ दूसरी विचारणीय बात स्वयं कक्षा ही है।
ामेँ कक्षा लगती है वह साफ़, सुथरा और सुरुचिपूर्ण
टवाला होना चाहिए। कक्षा यदि मलिन हुई तो
कका पढ़ानेमेँ और विद्यार्थियोंका पढ़नेमेँ मन ही न
मलिनता महासंक्रामक रोग है। मलिन वातारणमेँ
स्वस्थसे स्वस्थ मनुष्य भी अस्वस्थताका अनुभव
ागता है। मलिनता मनुष्यकी बुद्धि और विचारपर भी
आक्रमण कर बैठती है।

स्वच्छताका मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। स्वच्छ
एकाग्रतामेँ भी सहायक होता है। इसलिये कक्षासे
रखनेवाली सभी वस्तुएँ—मेज़, कुर्सी, फ़र्श, डेस्क,
स्टूल, दीवार, आलमारी, श्यामपट्ट—स्वच्छ, नियमित,

सक्रम, सङ्गत और सुरुचिपूर्ण होने चाहिएँ। साथ ही उस वातावरणमें साँस लेनेवाले सभी प्राणी—अध्यापक, और छात्र शरीर और वस्त्रोंमें स्वच्छ, सुदर्शन हों।

स्वच्छताके अतिरिक्त कक्षामें अध्ययन-अध्यापनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी आवश्यक वस्तुएँ—खड़िया मट्टीसे लेकर मानचित्र और पुस्तकोंतक—उपस्थित रहनी चाहिएँ, जिसमें समय और आवश्यकता पड़नेपर अध्यापनकी गतिमें बाधा दिए बिना ही अध्यापक उनका उपयोग कर सके।

अध्यापक यद्यपि कलाकार है परन्तु अन्य कलाकारोंकी भाँति स्वतंत्र और स्वच्छन्द नहीं। वैज्ञानिकको इस बातकी स्वतंत्रता है कि यदि किसी प्रयोगके करनेमें उसका मन नहीं लग रहा है तो वह उस प्रयोगको दस पाँच दिनोंके लिये स्थगित भी कर दे। यही बात चित्रकारकी भी है। चित्रकार कोई चित्र चाहे तो दो दिनोंमें प्रस्तुत कर दे, चाहे उसी काममें बहुत दिन लगा दे। पर अध्यापकको यह स्वतंत्रता नहीं। उसे निश्चित अवधिमें शिक्षा-विभाग-द्वारा निर्धारित पोथी पढ़ाकर समाप्त करनी ही पड़ेगी। इसमें वह आनाकानी नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त किसी कक्षाके लिये पुस्तक निश्चित करनेमें उसका हाथ भी नहीं रहता। यह काम तो 'ऊपरवाले' लोग करते हैं जो प्रायः छोटी कक्षाओंके विद्यार्थियोंकी आवश्यकता तथा उनके मस्तिष्कके विकास आदिके संबंधमें अधिक जानकारी नहीं रखते। उनमें कुछ तो ऐसे भी होते हैं जिन्हें शिक्षा-सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान होता ही नहीं। कुछ ऐसे होते हैं जिनका परिचय विद्यार्थियोंसे रहता है

अवश्य, पर ऊँची कक्षाओंके विद्यार्थियोंसे। ऐसी अवस्थामें उनके द्वारा निश्चित और स्वीकृत की हुई पुस्तकें व्यावहारिक क्षेत्रमें आकर बेचारे अध्यापकको विचित्र उलझनमें डाल देती हैं। यदि अध्यापक सत्यनिष्ठ हुआ तब तो वह अपनेको चक्कीके दो पाटोंके बीच पाता है। यदि वह किसी प्रकार 'कोर्स' समाप्त करनेपर तुल जाता है तो विद्यार्थियोंको सम्यक् शिक्षा नहीं दे पाता। यदि सम्यक् शिक्षा देनेका प्रयत्न करता है तो निश्चित अवधिमें पुस्तक नहीं समाप्त होती—

माण रखै तो पीउ तजि, पीउ रखै तो माण।
दोय गयन्दण बाँधिए, कबहुँक एकहि थाण॥

अर्थात् यदि मानका सम्मान करना है तो प्रियके प्रेमका अवसान कर दे। यदि प्रियके प्रेमकी चाह है तो मानका निर्वाह मत कर। एक ही खंभेमें दो हाथी नहीं बाँधे जा सकते।

उक्त दोहेकी सत्यता और चाहे कहीं सन्देहकी दृष्टिसे न देखी जाती हो परन्तु शिक्षा-विभागमें तो वह पूरी-पूरी संदेहात्मक है। इसका कारण ऊपर ही स्पष्ट कर दिया गया है। बेचारा अध्यापक विद्यार्थियोंको सम्यक् शिक्षा देनेका भी प्रयत्न करता है और निश्चित अवधिके भीतर ही पुस्तक भी समाप्त कर देता है। अपने पहले प्रयत्नमें तो वह अंशतः परन्तु दूसरे प्रयत्नमें पूर्णतः सफल होता है। ऐसी अवस्थामें अध्यापकको चाहिए कि वह पाठ्यपुस्तकोंके उपादेय अंशोंको पढ़ानेमें अधिक समय और शक्तिका व्यय करे और साधारण पाठोंको चलता कर दे। परन्तु यह व्यवस्था तभीतक चलनी चाहिए जबतक हमारे शिक्षा-विभागमें आमूल परिवर्तन

और सुधार नहीं हो जाता, जबतक पाठ्य-पुस्तकोंके चुनावकी कसौटी सिफारिश और पैसेसे बदलकर विद्यार्थियोंकी आवश्यकता और पुस्तककी उपादेयता नहीं हो जाती।

कक्षारूपी प्रयोगशालामें प्रवेश करनेपर अध्यापकको एक दूसरी कठिनाईका भी सामना करना पड़ता है। कक्षामें सभी विद्यार्थी एक ही प्रकारके नहीं होते। कुछ अत्यंत प्रखर बुद्धिवाले होते हैं उन्हें एक बात बताई जाय तो अपने ही बुद्धि-बलसे वे दो बातें सीख लेते हैं। ऐसे बालक असाधारण कोटिमें आते हैं। कक्षामें कुछ विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जिनकी बुद्धि अतिशय प्रखर तो नहीं पर साधारणतया अच्छी होती है। अध्यापकको इनके साथ भी विशेष माथापच्ची नहीं करनी पड़ती। इनके अतिरिक्त तीसरी श्रेणीके भी विद्यार्थी होते हैं जिनकी बुद्धिको देख-देखकर कभी-कभी यह भी सन्देह आ खड़ा होता है कि इनका मस्तिष्क लोहे और पत्थरके रासायनिक सम्मिश्रणकी तो उपज नहीं है।

अब यदि अध्यापक समय और शक्तिका उपयोग इन विद्यार्थियोंके लाभार्थ करता है तो कक्षाके कुशाग्र विद्यार्थी बेकार बैठनेके कारण अद्भुत काण्ड करने लग जाते हैं। यदि वह कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियोंपर ध्यान देता है तो गदहोंके खच्चर हो जानेका भय है।

इसीके साथ एक समस्या और भी है। वह यह कि कक्षामें विद्यार्थियोंकी संख्या दस बारहसे लेकर तीस पैंतीसतक होती है। पढ़ानेवाला एक ही होता है और पैंतीससे चालीस मिनट तकका समय उसे पढ़ानेके लिये दिया जाता है। ऐसी दशामें

प्रत्येक विद्यार्थीपर अलग-अलग ध्यान देना उसके लिये सम्भव नहीं। अतः किसी कक्षामें विद्यार्थियोंका समूह एकत्र करनेके पहले इसकी सावधानी रखनी चाहिए कि सभी विद्यार्थियोंके शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकासका स्तर प्रायः समान ही हो। बहुत बड़ा अन्तर मारकेशसा भयङ्कर होता है। इससे अध्यापककी कठिनाइयोंमें वृद्धि होती है। उसे कैसी उलझनमें पड़ जाना पड़ता है यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। फिर भी आश्चर्य्य है कि कुछ शिक्षा-शास्त्री इस सम्बन्धमें अद्भुत अभिमत प्रकट करते हैं। वे कहते हैं और कुछ आलोचकोंके कथनानुसार एकदम भ्रमपूर्ण कहते हैं कि कुशाग्रबुद्धि विद्यार्थियोंको नीचे, तथा मंदबुद्धि विद्यार्थियोंको ऊपर खींचकर बलांश ठीक कर देना चाहिए। धार्मिक दृष्टिसे इस मतपर विचार करें तो इसे महापाप कहना पड़ेगा। राजनीतिक दृष्टिसे यह दुर्नीति है। मानवता इसे अत्याचार कहती है। अर्थशास्त्र इसे श्रम, समय और शान्तिका अपव्यय कहता है। शिक्षा-विधान साम्यवाद या समाजवादका अखाड़ा नहीं है जहाँ शोषणका अपराध लगाकर एक अमीरका पैसा छीनकर सौ गरीबोंमें बाँटकर सबको बराबर कर देनेका सिद्धान्त प्रतिपादित होता है। यह वह पवित्र शिक्षा-मन्दिर है जहाँ ज्ञानका प्रसाद पानेके अधिकारी सभी हैं। यदि किसीका ज्ञानभाण्डार भरापुरा है तो उसे यह कहकर यहाँसे विमुख नहीं किया जा सकता कि तुम्हारे पास तो पर्याप्त ज्ञान है, अपितु उसके भी ज्ञानमें अभिवृद्धि करनेका ही प्रयत्न किया जायगा।

ऐसी अवस्थामेँ प्रत्येक अध्यापकका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थियोँको उपयोगी पुस्तकोँकी तालिका दे दे जिसमेँ वे उन पुस्तकोँका अध्ययन करेँ। इस प्रकार उन्हेँ पढ़नेमेँ लगाकर अध्यापक अन्य साधारण विद्यार्थियोँको पढ़ाना प्रारम्भ करे।

इसी स्थलपर अध्यापक-समाजमेँ फैली हुई एक व्यापक भ्रान्तिके सम्बन्धमेँ भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। हमारे अध्यापकोँकी विशाल संख्या कक्षामेँ ही किसी विद्यार्थीकी अत्यधिक प्रशंसा और किसीकी अत्यधिक निन्दा कर डालती है। विद्यार्थियोँपर इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अत्यन्त अवाञ्छनीय पड़ता है। ऐसी मानसिक उलझनेँ उत्पन्न हो जाती हैँ जो जीवनभर विद्यार्थीका पल्ला नहीँ छोड़तीँ।

इसके साथ ही अध्यापकको प्रत्येक विद्यार्थीका नाम जानना भी आवश्यक है। ऐसा होनेसे अध्यापककी उस त्रुटिपर परदा पड़ जाता है जो विद्यार्थियोँपर व्यष्टि रूपसे ध्यान न देनेके कारण उसमेँ लक्षित होती है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैँ विद्यार्थियोँ-पर अलग-अलग ध्यान देना अध्यापकके लिये असम्भव सा ही है। तथापि अध्यापकको इस बातकी सावधानी रखनी चाहिए कि कक्षाका कोई विद्यार्थी स्वप्नमेँ भी यह न सोच सके कि वह अध्यापककी उपेक्षाका पात्र है। यद्यपि यह कार्य भी बहुत सरल नहीँ है तथापि अध्यापकको करना ही चाहिए क्योँकि उसका जन्म ही कठिनाइयोँसे युद्ध करनेके लिये हुआ है। यदि ऐसा न होता तो वह भी राष्ट्रका मूक नेता न होकर वाचाट नेता होता, एसेम्बली और कौँसिलकी कुर्सियाँ

तोड़ता, किसी पत्रका सम्पादक होकर अध्यापकके वेतनमें कमी करनेकी आवश्यकता बतलाता, कमसे कम पुलीसका दारोगा तो होता ही। परन्तु नहीं। वह तो नींवका पत्थर है जिसपर कभी किसीकी दृष्टि नहीं पड़ती परन्तु जिसपर समूचे भवनका अस्तित्व निर्भर करता है।

वह प्रातःकाल ही घरका चूल्हा ठंडा छोड़कर जलता हुआ पेट लिए बाहर निकलता है, घर लौटकर कच्चा-पक्का पेटमें भरता है घर-घर घूमकर विद्यार्थियोंको पढ़ाता है। पुनः ठीक समयसे पाठशालामें भी पहुँचता है। छः घंटे खड़े होकर पढ़ाता है। सैकड़ों कापियोंके साथ ही अनेक अभिभावकोंकी नीली-पीली आँखें देखता है। सायंकाल घर लौटता है। दिनभरके परिश्रमके पश्चात् कुली मजदूरोंको भी छुट्टी मिलती है। परन्तु बेचारे अध्यापकको इस समय भी चैन नहीं। ट्यूशनकी महाव्याधि उसके पीछे पड़ी है। वह रातके दस बजेतक पुनः घरघर घूमकर पढ़ाता है। और फिर अवसादसे वेष्टित, क्लान्तिसे खिन्न, तन और मनपर श्रमका बोझ लिए करुणामयी निद्रा देवीकी गोदमें पड़ रहता है। उसका भी परिवार है, परिवारके प्रति उसका कुछ कर्तव्य भी है, इस पर ध्यान देनेका उसे अवकाश ही नहीं। उसके पास न इतना समय है और न इतना पैसा कि वह नवीन पुस्तक क्रय कर सके और उनका अध्ययनकर अपने ज्ञानकी अभिवृद्धि करे। भारतीय अध्यापककी दशा उस कर्णधार जैसी है जिसे भरी हुई वेगवती बरसाती नदीमें, घनी अँधियारीमें, मूसलधार वर्षा और प्रचंड झंझा-झकोरमें, उस छिद्रयुक्त बोझीली

नावको खोल देनेकी आज्ञा दी जाती है जिसमें न डाँड़ है न पतवार और फिर उसे यह आदेश दिया जाता है कि वह सफलतापूर्वक बेड़ा पार लगा दे। इससे कठिन कौशलकी कौन सी परीक्षा हो सकती है और जो इस परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाते हैं उनसे बढ़कर और कुशल कलाकार भी कौन हैं।

५

अध्यापकका कण्ठ

जिस प्रकार शस्त्रके बिना योद्धा युद्धमेँ खेत आता है, लेखनीके बिना परीक्षार्थी परीक्षामेँ चौका लीपकर आता है, तूलिकाके बिना चित्रकार रंगोँसे होली खेल बैठता है, उसी प्रकार कण्ठके बिना गायक, वक्ता और अध्यापक अपने गाने, व्याख्यान और अध्यापनका श्राद्ध कर डालते हैँ। कण्ठका अर्थ वह मांसपिंड मात्र नहीँ है जो सिर और धड़का डमरूमध्य बनकर दोनोँको जोड़ता हो और जिसकी उपमा संस्कृतके कवियोँने शङ्ख तथा कपोतसे और फ़ारसी कवियोँने सुराहीसे दे डाली है। कण्ठका यहाँ लाक्षणिक अर्थ है कण्ठसे निकलने वाला स्वर।

'स्वर'का अर्थ भी ध्वनि मात्र नहीँ है। गूँगा भी कभी-कभी तरङ्गमेँ आकर गूँ-गूँ-गाँ-गाँ आँ-आँ-ऊँ-ऊँ कर डालता है किन्तु उसकी इस अस्पष्ट और निरर्थक ध्वनिको हम अपने अर्थमेँ स्वर नहीँ कह सकते। 'स्वर'का अर्थ कण्ठसे निकलकर मुखके विभिन्न भागोँसे टकराकर निकलनेवाली उन सभी भाषा-ध्वनियोँसे है जो सार्थक, होँ, स्पष्ट होँ और मधुर होँ। यद्यपि सार्थक और स्पष्ट कहनेतक ही 'स्वर'की परिभाषा अभिमत अर्थ प्रकट करनेमेँ समर्थ हो जाती है किन्तु

हमारा काम उतनेसे नहीँ चल पाता इसी कारण हमने 'मधुर' भी जोड़ देना उचित समझा है।

हम ऊपर कह आए हैँ कि अध्यापन एक कला है अतः कलाको सजीव करनेके लिये जिन उपादानोँका आश्रय लिया जाय वे सभी ललित होँ। इसलिये हमने स्वरकी सार्थकता और स्पष्टतासे संतुष्ट न होकर उसके मधुर बननेपर भी बल दिया है।

'सार्थकता' और 'स्पष्टता' दोनोँ शब्द बिलकुल स्पष्ट हैँ। ध्वनिकी सार्थकताका अर्थ है कि उन ध्वनियोँका उच्चारण किया जाय जो हमारी भाषामेँ या हमारे द्वारा किसी विशेष समयमेँ व्यवहृत भाषामेँ प्रयोग की जायँ। तात्पर्य यह है कि नागरी भाषाका प्रयोग करते हुए हम 'ई' के लिये जर्मनीय 'यू' उमला-उटका प्रयोग करने लग जायँ तो वह ध्वनि जर्मनीय भाषामेँ सार्थक होते हुए भी हमारी भाषाके लिये निरर्थक ही होगी। इसी प्रकार 'ध्वनिकी स्पष्टतासे हमारा यह तात्पर्य है कि मुखसे निकलनेवाली ध्वनि श्रोताओँके कानोँमेँ अपना ठीक रूप लेकर पहुँचे। ऐसा न हो कि आप कहते होँ 'राम' और आपके उच्चारणकी अपूर्णता और अस्पष्टताके कारण वह दूसरेको सुनाई दे 'ज़ाम'; या आप कहना चाहते होँ 'सुन्दर' किन्तु आपकी मुख-कन्दराके भीतर संचालित होनेवाले यन्त्र उसे 'फ़ुन्दर' बनाकर भेजेँ।

'सार्थक' और 'स्पष्ट'का विवेचन कर देनेपर 'मधुर' शब्दकी व्याख्या रह जाती है। मधुरका शब्दार्थ है मीठा। मीठेका लाक्षणिक अर्थ है कानको सुख देनेवाला। जब कहते हैँ

कि अमुक व्यक्तिकी वाणीमें मिश्री घुली है, या वह चाशनीमें घोलकर बोल बोलता है तब उससे यह अर्थ तो निकाला ही नहीं जा सकता कि मुँहमें मिश्रीका टुकड़ा रखिए और बोलना प्रारम्भ कर दीजिए, बस वाणी मधुर हो गई। बाहर की कोई भी मिठाई वाणीपर चाशनी नहीं चढ़ा सकती। वह कुछ तो भगवान्की देन और कुछ अभ्यासपर अवलम्बित है। मधुर वाणी उस सार्थक ध्वनि-समूहको कहते हैं जो उचित बल, उचित गति, उचित उतार-चढ़ाव और उचित मात्रामें अवसर तथा पात्रके अनुकूल, मानसिक स्वस्थता और प्रसन्नताके साथ व्यक्त किया जाय और जिसको सुनकर श्रोता अधिक सुननेके लिये लालायित हो। इस परिभाषाकी भी समुचित व्याख्या हो जानी चाहिए।

उचित बलका अर्थ है कि स्वर न तो इतना तीव्र हो कि कानके पर्दे बमगोलोंके पतनका अनुभव करने लगें न इतना मन्द हो कि 'आप सुनै जो आपहि बोलै'। स्वर इतना ऊँचा हो कि कक्षाके बालकोंमें से प्रत्येक आपकी वाणीका प्रत्येक अक्षर ठीक-ठीक सुन सके। ऐसा न हो कि आप तो कहते जायँ और छात्र मनमें कुढ़ते रहें, मुँह बिचकाते रहें, एक दूसरेकी मुद्रा देखते रहें और फिर अपने करमको ठोककर, मन मसोसकर मूर्त्ति बने बैठे रह, । आपको यह देख लेना चाहिए कि आपका परिश्रम व्यर्थ तो नहीं जा रहा है, आपके शब्द केवल आकाश ही तो ग्रहण नहीं कर ले रहा है। साथ ही, आप स्वर इतना ऊँचा भी न चढ़ा लें कि धोबी एकत्र हो जायँ, पास पड़ोसकी कक्षाओंको

यह भ्रम हो जाय कि मास्टर साहबने महाभारत प्रारम्भ कर दिया है अथवा किसी लड़केपर उबल पड़े हैं। अध्यापक कोई ध्वनिविस्तारक यन्त्र (लाउड-स्पीकर) तो है नहीं कि एक साथ सारे संसारको अपनी ध्वनिसे भर दे।

उचित गतिका यह अर्थ है कि न तो अत्यन्त शीघ्रतासे बोलें न अत्यन्त ठहर-ठहरकर। वाणीमें प्रवाह रहे किन्तु वह प्रवाह बरसाती नदीके समान न हो, वाणीमें गति रहे किन्तु तूफ़ान मेल न छोड़ी जावे। उचित गति उस गति को कहते हैं कि मुखसे निकले हुए शब्द एक एक करके श्रोताके कानसे प्रवेश करके उसके मस्तिष्कपर टपलेखन-यन्त्र (टाइपराइटर) के अक्षरोंके समान बैठते चले जावें; कोई अक्षर, शब्द, वाक्य या विचार वायुमें न विलीन हो जाय। साथ ही इतना ठहर ठहरकर भी न बोला जाय कि ऐसा जान पड़े कि किसीने अध्यापककी चुटिया पीछेसे पकड़ ली है और जब वह अंकुश देता है तभी अध्यापक महोदय खिलौनेवाली चिड़ियाके समान चूँ कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि अध्यापकको इस गतिसे बोलना चाहिए कि वह भली भाँति समझा जा सके। इससे कुछ लोग यह अर्थ निकालनेका प्रयास कर सकते हैं कि यदि उक्तिका भाव स्पष्ट होगया तो गति ठीक मान ली जायगी। किन्तु यह बात नहीं है। उचित गतिका अर्थ यह है कि जो बात कही जाय उसका प्रत्येक अक्षर श्रोतागण अनायास ग्रहण कर सकें।

स्वरके उचित उतार-चढ़ाव अर्थात् सुस्वरताका अध्यापन-कलामें विशेष महत्त्व है। जैसे एक राग सुन्दर बाँधसे. [illegible]ोह,

आकर्षक और प्रभावशालो होता है उसी प्रकार भाषामेँ स्वरके उचित उतार-चढ़ावसे विशेष प्रभाव उत्पन्न हो जाता है। इस स्वरके उतार-चढ़ावके कई अंग हैँ। उन अंगोँका यदि ध्यान न रक्खा जाय तो कभी कभी उक्तिके अर्थमेँ भी बाधा आ जाती है। एक वाक्य लीजिए—

'हमारी रक्षाके लिये एक भारतीय सेनापति चाहिए।'

इस वाक्यमेँ चार शब्द महत्त्वपूर्ण हैँ—हमारी, रक्षा, भारतीय और सेनापति। अब प्रश्न यह है कि यह वाक्य बोलते समय इनमेँ से किस शब्दपर अधिक बल दिया जायगा। यदि हम 'हमारी' या 'रक्षा' शब्दोँपर बल देते हैँ तो 'भारतीय' शब्दका कोई महत्त्व नहीँ रहता। 'सेनापति' शब्द ही उसकी सिद्धिके लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार यदि 'सेनापति' शब्दपर हम बल देँ तो वह निरर्थक हो जाता है क्योँकि उसके बदले हम 'वीर' इत्यादि कोई भी शब्द रखकर काम चला सकते हैँ। किन्तु इस वाक्यका जो एक विशेष व्यङ्ग्यार्थ है कि 'भारतीय रक्षा जिस तत्परता, संलग्नता और सच्चाईके साथ भारतीय सेनापति कर सकता है उतनी कोई दूसरा नहीँ कर सकता, वह तबतक नहीँ प्रकट हो सकता जबतक हम 'भारतीय' शब्दपर विशेष स्वर-बल न देँ।

इसी प्रकार 'काकु'का भी उतार-चढ़ावमेँ विशेष महत्त्व है। कभी-कभी हमेँ ऐसे वाक्य, वाक्यांश या शब्दोँसे पाला पड़ता है जो यदि सीधे-सीधे कह दिए जावेँ तो उनके द्वारा जो अर्थ व्यक्त किए जानेकी भावना होती है वह निष्फल हो जाती है किन्तु उसीको यदि स्वरके विशेष विकारसे

प्रकट करें तो उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। जैसे एक उदाहरण लीजिए—

अध्यापक—गोविन्दको किसने पीटा है।

मोहन—मैंने।

अध्यापक—तुमने।

इस उपर्युक्त बातचीतमें अध्यापकने मोहनसे कहा है 'तुमने'। इस 'तुमने'के उच्चारणमें जो स्वरोंका उतार-चढ़ाव है वह मोहनकी योग्यतापर निर्भर है। अर्थात् कुशल अध्यापकके उचित रीतिसे 'तुमने' कहनेपर मोहनके विषयमें हम बहुत सी बातें जान सकते हैं। जैसे यदि अध्यापकने व्यंग्य स्वरसे 'तुमने' कहा तो इसका अर्थ होगा कि तुम इतने दुबले, पतले, मरकट लड़के हो, तुम क्या मारोगे। यदि आश्चर्य और ग्लानिसे मिश्रित स्वरसे कहता है तो उसका तात्पर्य यह है कि तुम तो ऐसे बुरे लड़के नहीं हो, तुमने इसे कैसे पीट दिया। यदि उसीको अध्यापक समर्थनसूचक भावसे कहता है तो इसका अर्थ यह है कि मैं जानता ही था कि तुम्हीं ऐसे दुष्ट लड़के हो, तुम्हींने मारा होगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि स्वरके उतार-चढ़ावका बड़ा महत्व है और यह अभ्यास सुस्वर समाजमें उठने-बैठने तथा नाटक देखनेसे शीघ्र हो जाता है। दूसरे देशोंमें प्रारंभसे ही स्वरके उचित उतार-चढ़ावकी व्यवस्थित शिक्षा दी जाती है और यह उनके शिष्टाचारका एक अंग है। अभ्यागतका स्वागत करते समय, धन्यवाद देते समय तथा अन्य ऐसे ही अवसरोंपर उनकी वाणीका विलास सुनने, सीखने और अनुकरण करनेका विषय है।

उचित मात्राका अर्थ है उतना ही बोलना जितनेकी आवश्यकता हो। संस्कृत वैयाकरणोंमें एक उक्ति प्रसिद्ध है कि—

'एकमात्रालाघवेऽपि पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः ॥'

अर्थात् एक मात्रा घटाकर यदि कोई वैयाकरण अपनी बात कह सके तो उसे ऐसी प्रसन्नता होती है मानो उसके घर पुत्र उत्पन्न हुआ हो। इसी प्रकार अध्यापकको भी उतनी ही बात बोलनी चाहिए जितनेके बिना काम न चल सकता हो, न एक भी शब्द अधिक, न कम। बहुतसे अध्यापकोंको बोलनेका रोग होता है। उस झोंकमें वे यह विवेक नहीं कर पाते कि हमें कितना बोलना चाहिए, कितना नहीं। वे यही समझते हैं कि हम जितना अधिक बोलेंगे हमारे पांडित्यकी उतनी ही अधिक धाक छात्रोंपर जमेगी। पर वे यह भूल जाते हैं कि छात्र भी मनुष्यके बच्चे हैं, उनमें भी समझ है, उनकी सहन-शीलताकी भी सीमा है। ऐसे वाचाल अध्यापकका घंटा प्रारम्भ होते ही वे कहने लगते हैं—लो अब भागवतकी कथा प्रारंभ हो जायगी। साथ ही इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अध्यापक महोदय मौनी बाबा बन जायँ, ऐसे गिन-गिनकर तौल तौलकर शब्द बोलने आरम्भ कर दें कि छात्रोंकी समझमें कुछ आवे ही नहीं। उचित मात्राका अर्थ यही है कि अवसरके अनुकूल तथा छात्रोंकी समझ और योग्यताके अनुसार उतनी ही वाणी प्रयोगमें लाई जाय जिससे प्रस्तुत विषयको छात्र भली भाँति समझ जायँ।

पर इन सब बातोंसे अधिक महत्त्वकी बात है मानसिक

स्वस्थता और प्रसन्नता। बात इस प्रकारकी मुखमुद्रासे बनाकर न कही जाय कि छात्रोंको यह भ्रम हो कि मुहर्रमके दिन इनका जन्म हुआ है, अभी लकड़ी चलाए चले आ रहे हैं, कड़वी दवा पीकर कक्षामें घुसे हैं या इनके घरमें रातको सेंध लग गई है। ऐसे भी न हों कि जान पड़े कि पिए हुए हैं, दुर्वासाके भाई हैं, परशुरामके नाती हैं और आज कक्षाको छात्रहीन बनानेका प्रण करके आए हैं। अध्यापकको चाहिए कि सदा प्रसन्न दिखलाई दे। कक्षामें घुसे एक मुस्कराहटके साथ और बोले तो मन्द हासके साथ। ऐसा जान पड़े मानो फूल झड़ रहे हों। आपकी मुखमुद्रा ऐसी प्रसन्न हो कि देखनेवाले भी खिल उठें। इस मुद्राके साथ जब आपका कंठ खुलेगा तो छात्रोंकी दृष्टि आपके मुखपर, उनके कान आपके वचनोंपर और उनके मन आपके विचारोंमें बँध जायँगे। यही कंठकी कोमलता और कमनीयता की विशेषता है।

कुछ लोग कहते हैं कि कंठ ईश्वरकी देन है। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसे कंठ ईश्वरकी देन है वैसे ही कण्ठको सुधारनेकी ओषधियाँ भी ईश्वरकी देन हैं। बहुतसे लोगोंने बोलनेकी कला कौए से, सूअरसे, फटे हुए बाँससे या विमानसे सीखी है। वे बोलते हुए कर्कश जान पड़ते हैं, उनकी वाणीमें घरघराहट और कंठमें विस्वरता होती है या वे बोलते हुए नाकका अधिक आश्रय लेते हैं। ऐसे लोगोंका कंठ सुधारनेके लिये एक औषध और प्रयोग हम बता देना चाहते हैं। ये दोनों उपाय सिद्ध हैं और इनसे कभी किसी प्रकारकी हानि नहीं होती। औषध यह है—

त्रिफला लवणाक्तेन भक्षयेच्छिष्यकः सदा।
क्षीणमेधा जनन्येषा स्वरवर्णकरी तथा॥

अर्थात् यदि सेंधा नमक मिला हुआ त्रिफलाका चूर्ण शिष्य (या गुरु) नित्य प्रातःकाल फाँके; तो बुद्धि बढ़ती है और स्वर ठीक हो जाता है। जिन लोगोंका स्वर बहुत पतला है अथवा विस्वर है उन्हें चाहिए कि कोरा घड़ा या मटका लेकर उसमें मुँह डालकर उच्च स्वरसे बोलें तो स्वर-मन्दता, विस्वरता आदि कण्ठदोष दूर हो जाते हैं।

अध्यापकको अपने कण्ठका बड़ा ध्यान रखना चाहिए। यही उसकी जीविकाका आधार है। मिर्च, खटाई, अचार, तेल आदि गर्म तथा तीक्ष्ण पदार्थोंका कभी सेवन नहीं करना चाहिए और बरफ़ या बरफ़का पानी तो भूलकर भी नहीं पीना चाहिए। इससे कण्ठ बिलकुल नष्ट हो जाता है, फूल जाता है और उसमें रोग पैठ जाते हैं। इसी प्रकार अपने कण्ठको सर्दीसे बचाना चाहिए। कोई भी ऊनी कपड़ा स्वर-नलिकापर रहे तो कण्ठ नहीं बिगड़ता। इसीलिये पहले अध्यापक लोग कंठपर दुपट्टा लपेटे रहते थे।

कण्ठको ठीक करनेका एक उपाय और भी है। इसीके बलपर अपने देशके प्राचीन गुरु और ऋषि अपने शिष्य एवं चेलोंपर प्रभाव डालते थे और अभीष्टकी सिद्धि करते थे। वह प्रयोग है प्राणायामका नियमित प्रतिदिन व्यवहार करना। प्राणायाम करनेकी क्रिया गुरुगम्य है। लिखा हुआ पढ़कर प्राणायाम करना अपने हाथों कुल्हाड़ी मारना है। साधारण नियम यों कहा जा सकता है—सीधे, रीढ़की हड्डीको समसूत्रमें रखकर, बैठ

जाइए और पहले कुछ बार गहरी साँस लीजिए। इसके बाद जिस नासारंध्रसे साँस चल रही हो उसीसे साँस लेकर दूसरे रंध्रको बन्दकर कुछ देर रुकिए और उसके बाद बन्द विवरसे साँस धीरे धीरे निकाल दीजिए। साधारणतः ८ सेकेण्डमें साँस लेना, ३२ सेकेण्ड तक रोकना और १६ सेकेण्ड तकमें निकाल देना प्रारंभमें पर्याप्त है।

इस प्रकार अभ्यास, साधन और उपायोंसे जो लोग अपना कण्ठ साधते हैं, वे अत्यन्त सफल गायक, अभिनेता, वक्ता और अध्यापक हो जाते हैं। सुकण्ठ और सुस्वर लोग ही सभा, समाज या पाठशालामें यश और सम्मान पाते हैं अतः अपने कण्ठको—

रक्षणीयः रक्षणीयः रक्षणीयः प्रयत्नतः—

भली प्रकार सावधानीसे सँभालकर रक्खो, न हवा लगने दो, न डीठ लगने दो।

संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं कि अच्छे पाठकके जो गुण कहे गए हैं, वे ही गुण अच्छे वक्ता या बोलनेवालेके भी होने चाहिएँ। वे गुण हैं—

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः।
धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥

अर्थात् (१) मधुरता या कोमलताके साथ बोलना, (२) एक एक अक्षर स्पष्ट करके बोलना, (३) एक एक शब्द स्पष्ट करके बोलना, (४) स्वरको भावानुसार तथा अर्थानुसार उचित रूपसे उतार-चढ़ाकर बोलना, (५) उचित गतिसे धैर्यके साथ बोलना तथा (६) उचित विराम देकर लयका अथवा

प्रवाहका निर्वाह करते हुए बोलना, ये छः गुण अच्छे पाठक, वक्ता या अध्यापकमेँ होने चाहिएँ। इन्हीँ गुणोँको अँगरेजीमेँ क्रमशः—

(१) स्वीटनेस्, (२) आर्टिकुलेशन, (३) प्रोनन्सिएशन या डेलिबरेटनेस्, (४) इएटोनेशन, (५) मौडरेट स्पीड; तथा (६) प्रौपर ह्ञ्ज या कण्टिनुइटी विद् प्रौपर पौज़ेज़—कहते हैँ

इसके विपरीत, टायँ-टायँ करके या घरघराकर बोलना, बोलते हुए अक्षरोँको खाजाना, शब्दोँको एक दूसरेसे बुरे ढंगसे मिला देना या अनुचित रूपसे अलग करके बोलना, एक स्वरसे सब कुछ कह जाना, अतिशीघ्र या अति मन्द गतिसे बोलना, तथा अनुचित विराम देकर वाणीको झटके दे देकर बोलना—वाणीके दोष हैँ। यदि अध्यापकमेँ ये दोष होँ तो वह उन्हेँ शीघ्र दूर कर ले और गुणोँको ग्रहण कर ले। वाणीके सगुण होनेसे अध्यापकके अन्य सभी दोषोँपर पर्दा पड़ सकता है किन्तु यदि कंठ न सधा तो और गुणोँका होना न होना बराबर है।

——

६

कलाकार की मुद्रा

हम पीछे कह आए हैं कि अध्यापक जब कक्षामें प्रवेश करता है तो वह वैज्ञानिक अथवा चित्रकारके समान नहीं अपितु अभिनेताके समान प्रवेश करता है। किन्तु अभिनेताके साथ उसकी समानता यहीं तक होती है कि दोनों अपना पाठ तैयार करके आते हैं, दोनोंको अपनी गतिविधिका ध्यान रहता है। किन्तु दोनोंमें भेद भी है। अभिनेता तो सदा हँसमुख नहीं रह सकता। यदि वह गंभीर भावका अभिनय करता है तो उसके मुखपर हँसी कभी आ ही नहीं सकती। किन्तु अध्यापक वह अभिनेता है जिसे जन्मभर करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि रसोंका अभिनय ही नहीं करना पड़ता। वीरका स्थायी भाव उत्साह उसका अमर सहायक है, हास्यका स्थायी भाव हास उसका चिरसंगी है और शृङ्गारका स्थायीभाव रति, वात्सल्यके रूपमें उसके मुख, उसके नेत्र और उसकी वाणीसे सदा छलका करता है। कभी कभी अद्भुतका स्थायी भाव आश्चर्य, उपर्युक्त भावोंकी पुष्टि करनेके लिये आया-जाया करता है और शान्तका स्थायीभाव निर्वेद सदा कक्षा भरमें आसन जमाए बैठा रहता है। पर यह लक्षण अच्छे अध्यापकके ही हैं और जो अच्छे अध्यापक बनना चाहें उन्हें इनके लिये

साधना और तपस्या भी करनी चाहिए। यह तपस्या बड़ी सरल है और शीघ्र ही फल देनेवाली भी है।

कुछ ऐसे भाव हैं जिन्हें शिक्षण-मनोविज्ञानके आचार्य्य अध्यापकके मित्र कहते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें अध्यापकका शत्रु कहते हैं। मित्र भावोंमें सबसे प्रधान है मानसिक शान्ति जो सन्तोषसे प्राप्त होती है। दूसरा भाव है आत्मविश्वास, यह गम्भीर अध्ययन तथा नित्य स्वाध्यायसे मिलता है। तीसरा भाव है प्रसन्नता या मस्ती जो अभ्याससे प्राप्य है। ऐसा हो कि आप जिससे मिलें वह भी आपको देखकर खिल उठे, मुहर्रमी भी आपसे मिलते ही फाग मनाने लगे। चौथा भाव है निर्भयता। यह सच्चरित्रता, गंभीर अध्ययन और आत्म-निर्भरतासे प्राप्त होता है। पाँचवाँ स्पष्ट भाव है स्नेहयुक्त व्यवहार। इतने भाव मुखपर अंकित करके अध्यापकको, कक्षामें प्रवेश करना चाहिए। यही अध्यापकका तेज है, यही उसका अस्त्र है, यही उसकी शक्ति है, ये ही उसके साधन हैं। ऐसा अध्यापक चाटुकार नहीं होता, किसीसे डरता नहीं, किसी भी परिस्थितिमें विचलित नहीं होता। धैर्य, विश्वास और लगनके साथ वह काम करता चला जाता है।

इतालिया (इटली)की प्रसिद्ध शिक्षिका श्रीमती मौन्तेसोरीने अध्यापकोंके लिये यह आदेश दिया है कि अध्यापक होकर जब आप अपने स्कूलोंमें जायँ तो सदा अपने छात्रोंसे मुस्कराकर बातें करें। कक्षामें प्रवेश करके मन्द-मुस्कानके साथ छात्रोंके अभिवादनका अभिनन्दन करें। ऐसा न हो कि अँगरेज कवि औलिवर गोल्डस्मिथके 'दि डेज़र्टेड

विलेज' (ऊजड़ ग्राम) में वर्णित औबर्नके अध्यापकके समान ऐसी भृकुटी ताने हुए कक्षामें पहुँचें कि आनेवाली विपत्तिकी चर्चा कानोकान प्रत्येक विद्यार्थीको कानाफूसीसे प्रकट हो जाय। स्मरण रक्खो—

मन्द हासके साथ कक्षामें प्रवेश करते ही पाठकी आधी सफलता अध्यापकको मिल जाती है क्योंकि आपके मुखकी प्रसन्नताके बदले छात्र अपनी श्रद्धा, अपना स्नेह और अपनी एकाग्रता दान दे डालते हैं। यही तो आपको चाहिए, यही आपको मिल जाता है। यह प्रसन्नताकी मुद्रा आदिसे अन्त तक व्याप्त रहनी चाहिए।

मुद्राके समान ही अंग-संचालन भी अध्यापनका प्रधान अंग है। यहाँ भी अभिनेता तो अपनी भूमिकाके अनुकूल हाथ-पैर पटक सकता, कूद सकता, उछल सकता, लेट सकता और आँख-नाक-भौं मटका सकता है किन्तु अध्यापक यह सब नहीं कर सकता। इसका यह अर्थ नहीं है कि कक्षामें प्रवेश करके वह मूर्त्तिके समान अचल बना खड़ा रहे, हिले-डोले नहीं। इसका अर्थ इतना ही है कि उसे संयत होकर अंग-संचालन करना चाहिए। कक्षा रङ्गमञ्च नहीं है, पाठ भी कोई नाटक नहीं है और छात्र भी सामाजिक नहीं हैं। यहाँ अध्यापनका उद्देश्य यही है कि पाठ भली प्रकार समझाया जाय और पाठको समझानेके लिये यदि किसी प्रकारके अङ्ग-सञ्चालन अथवा भाव-भङ्गीके प्रदर्शनकी आवश्यकता हो तो उसका प्रयोग कर दिया जाय। किन्तु इसके लिये केवल इतना

ही विधान है कि अङ्ग-सञ्चालन अथवा मुख-मुद्राएँ ललित और सोद्देश्य हों।

ललितका तात्पर्य यही है कि फूहड़, अश्लील या भयोत्पादक मुद्राएँ या अङ्ग-सञ्चालन न किया जाय। ऐसा न हो कि 'शीर्षासन' शब्द पाठमें आया कि मास्टर साहब नीचे सिर और ऊपर पैर करके कसरत दिखाने लगें, या कहीं 'कटाक्षपात' शब्द आया कि लगे आँख मारने; या कहीं 'हावभाव' शब्द आया कि लगे हाथ या कमर मटकाने अथवा 'रौद्र' शब्दके आते ही आँखें चढ़ाकर नथने फुलाकर लगे चिल्लाकर आकाशको सिरपर उठाने। कहनेका तात्पर्य यही है कि शील, शिष्टता और लालित्यकी रक्षा करते हुए उचित प्रकारसे अङ्ग-सञ्चालन करना चाहिए।

इसीके अन्तर्गत अध्यापककी चाल, उसका सिर हिलाना; आँखें चलाना, हाथ हिलाना, फैलाना, उँगली चलाना आदि भी हैं। अध्यापककी प्रत्येक गतिमें एक आकर्षक तथा अनुकरणीय शोभा होनी चाहिए, एक भव्यता और बड़प्पन होना चाहिए। उसे सीधा चलना चाहिए, प्रत्येक पग नपातुला पड़े, बाएँ हाथमें पोथी हो, दायाँ हाथ कमरके पीछे हो, अवसर-अवसर-पर अपना स्थान बदलता रहे, किन्तु टहलता न रहे। मेज या कुर्सीका सहारा लेकर न खड़ा हो और यदि बैठे भी तो ठीकसे, पैर लटकाकर, यह नहीं कि कुर्सीपर बैठकर पैर मेजपर फैला दिए हों। इन सब बातोंका भी अध्यापन-शिष्टाचारसे सम्बन्ध है और इन सबका भी अलक्षित प्रभाव संस्कारके रूपमें छात्रोंपर पड़ता है।

इसीके साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि खड़िया हाथमें लेकर उसे नचाना या उछालना अथवा सूचकदंड (पौइंटर) लेकर उसे घुमाना आदि क्रियाएँ भी अनुचित और अवाञ्छनीय हैं । कोटके बटनको घुमाना, तालीका गुच्छा लेकर नचाना, दाँतोंसे नख काटना, कलम लेकर उँगलियोंमें डालना आदि सभी अभ्यास भद्दे और अवाञ्छनीय हैं। ये आगे चलकर दुरभ्यासका रूप ले लेते हैं और छात्रोंको हँसी उड़ाने या विनोद करनेका अवसर प्रदान करते हैं।

यहाँ कुछ वेश अथवा परिधानपर भी कहना असंगत न होगा। कोट-बूट-सूटके इस युगमें अच्छे अध्यापकका एक यह भी लक्षण माना जाने लगा है कि वह अंगरेजी वेश-भूषामें सजा हुआ हो। इसके पक्षपातियोंका कहना है कि अँगरेज़ी वेश मनुष्यको चुस्त तथा चेतन रखता है। किन्तु यह बात सर्वथा निराधार और भ्रमपूर्ण है। चुस्त या चेतन तो मनुष्यका मन रखता है वेश नहीं। हमारे देखनेमें ऐसे बहुतसे अँगरेज़ीनुमा भारतीय आए हैं जो उन अँगरेज़ी कपड़ोंको भी अपने शैथिल्यसे लज्जित करते हैं। परिधानके लिये इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि वस्त्र सादे हों, बहुमूल्य नहीं; स्वच्छ हों, फ़ैशनयुक्त नहीं; तथा पूर्ण हों, अपूर्ण नहीं। पूर्णका अर्थ यही है कि चाहे जिस देशका वेश हो, पूरा हो। यह न हो कि नंगे सिर, मिर्जई, नेकर और चमरौधा जूता पहनकर चले आए हों। यह वेश तो विदूषकको ही अधिक फबता है। पूर्णताका अर्थ यही है कि यदि आप कुर्त्ता ही पहनें तो उसपर जवाहर सदरी पहन लें। शरीर कसनेसे चेतनता आ जायगी। सिरपर

टोपी लगाइए, नीचेतक धोती पहनिए या पाजामा और पंप जूता, देशी नागरा या चट्टी पहनिए, यह पूर्णवेश होगा। इसी पूर्णताके साथ यह भी ध्यान रखिए कि बटन न खुले हों, चुटिया टोपीमेंसे न झाँके। यदि आपको बाल पालनेकी रुचि हो तो बालोंमें तेल डालकर उनमें कंघी कर लीजिए। यदि दाढ़ी रक्खी है तो ठीक है, यदि नहीं तो नियमतः दाढ़ी मुँड़वाते या मूँड़ते रहिए। आपका मुखमंडल अरक्षित जंगल न बन जाना चाहिए। नासिका और ओष्ठके मध्यप्रान्तके विषयमें सम्मति देना हम उचित नहीं समझते। यदि पुरुषत्वके प्रत्यक्ष प्रतीककी रक्षा करनी उचित समझें तो मूँछ रखिए और यदि उसे अनावश्यक तथा विश्वबन्धुत्व और लिंग-समत्वके समाजवादी सिद्धान्तकी प्रगतिमें बाधक समझें तो उस नासिका तथा ओष्ठके मध्यप्रान्तका परिष्कार करा डालिए। भिन्न रुचिर्हि लोकः के अनुसार उसके लिये कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। पर यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि आप ख़सका इत्र, लवेण्डर या सुगन्धित तैल लगाकर कक्षामें न पहुँचें। इससे बालकोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी अनुकरणशील प्रकृति शीघ्र ही इधर झुकेगी और उन्हें शीघ्र ही व्यसन तथा अतिव्ययताकी ओर खींच ले जायगी।

उपर्युक्त विवरणका परिणाम यही निकला कि अध्यापक सादे, स्वच्छ और पूर्ण वस्त्र पहनकर, मन्द मुस्कानके साथ कक्षामें प्रवेश करे और वहाँ उसकी मुखमुद्राएँ तथा अंग-संचालन् ललित तथा सोद्देश्य हों।

७

कक्षामें पहुँचनेपर

जब पहले पहल नया अध्यापक कक्षामें प्रवेश करता है तो उसका धैर्य लुप्त हो जाता है, उसका साहस हवा हो जाता है, उसकी सिट्टी-पिट्टी भूल जाती है, उसे ऐसा जान पड़ता है मानो उसे काठ मार गया हो। जितना कुछ वह सोच-विचार कर, पढ़-लिखकर आता है वह सब विस्मृत हो जाता है। कभी कभी कुछ लजीले युवक जब अध्यापककी वृत्ति धारण करके कक्षामें प्रवेश करते हैं तो बालकोंसे चार आँखें होते ही उनके गालोंपर गुलाबी दौड़ जाती है, कानोंपर लाली छा जाती है, छुई-मुईकी पत्तियोंके समान वे ऐसे सिकुड़ जाते हैं कि फिर आँख नहीं उठाते, झेंपकर रह जाते हैं। कभी-कभी कोई अध्यापक पहलेसे यह सोच-विचारकर चलते हैं कि लड़कोंको यों डाँटेंगे, यों फटकारेंगे और कोई शरारत करेगा तो उसकी यों मरम्मत करेंगे। ऐसे लोग कभी-कभी अपनी योजना पूरी भी कर डालते हैं किन्तु उसका फल बिलकुल उलटा होता है। छात्रगण पहले दिनसे ही उनकी गिनती हिंसक जन्तुओंमें करने लगते हैं और उन्हें दूरसे देखकर बोली कसना भी प्रारम्भ कर देते हैं—

अरे भागो, भेड़िया आया। बचना, शेर आ रहा है, इत्यादि।

कभी-कभी कुछ लोग इतने सीधे, बिलकुल बछियाके ताऊ बनकर कक्षामें जाते हैं कि उनका वेष तथा उनका आकार डङ्का बजाकर उनकी मूर्खता, अशक्तता और बुद्धूपनकी घोषणा कर देते हैं और छात्र पहले ही साक्षात्कारमें भाँप जाते हैं कि स्कूलमें विनोदोत्सवकी प्रकृत सामग्री विधाताने बिना माँगे भेज दी है। अध्यापक महोदयकी बड़ी बड़ी व्यंग्यात्मक प्रशंसाएँ होती हैं, लड़के उन्हें बुद्धू बनाते हैं पर वे समझते हैं कि हमारी पूजा हो रही है। जूतोंके हारको वह जयमाल समझकर पहनते चले जाते हैं।

पीछे हम विस्तारसे यह वर्णन कर आए हैं कि कक्षामें प्रवेश करनेके पूर्व अध्यापकको क्या क्या साधनाएँ करनी चाहिएँ और किन किन गुणों, योग्यताओं और उपकरणोंसे सुसज्जित होकर कक्षामें प्रवेश करना चाहिए। इस अध्यायमें हम यह विचार करेंगे कि कक्षामें पहुँचकर अध्यापकको किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए।

कक्षामें प्रवेश करते ही अध्यापकको चाहिए कि मृदु मन्द हासके साथ कक्षाके स्वागत-सत्कारका अभिनन्दन करे और तत्काल छात्रोंको बैठ जानेका आदेश दे दे। यह तो हम पहले ही कह आए हैं कि अध्यापकको पाठसे सम्बन्ध रखनेवाली पोथी, चित्र, मानचित्र आदि आवश्यक उपादान साथ ले आने चाहिएँ। इन वस्तुओंको मेज़पर अथवा तदनुकूल स्थानोंपर रखकर झाड़न लेकर श्यामपट्टको पोंछकर स्वच्छ कर देना चाहिए। क्योंकि कभी कभी यह होता है कि श्यामपट्टपर

कभी तो गणितके प्रश्न लिखे रहते हैं और कभी ड्राइंगका तोता बना रहता है और अध्यापक पढ़ाते हैं इतिहास। इससे छात्रोंका ध्यान बीच-बीचमें उन लेखोंसे उचटता रहता है। उसके पश्चात् श्यामपट्टके दाईं ओर अर्थात् अपने बाएँ हाथकी ओर कोनेमें तिथि लिख देनी चाहिए। यह करनेके पश्चात् एक दृष्टि चारों ओर घुमाकर यह देख लेना चाहिए कि सभी छात्र पिछले घंटेके पाठके कामसे छुट्टी पा चुके हैं या नहीं। ऐसा तो नहीं है कि एक अभी सवाल निकाल रहा है, दूसरा अनुवाद कर रहा है, तीसरा मानचित्र खींच रहा है। दृष्टि सहानुभूतिमय होनेके साथ-साथ उसे यह चेतावनी भी दे देनी चाहिए कि अब पिछला काम जहाँका तहाँ बन्द कर दो और उस घंटेके लिये निर्दिष्ट पाठको ग्रहण करनेके लिये सन्नद्ध हो जाओ। इस प्रकार दृष्टि घुमानेका फल सदा अच्छा होता है। छात्रोंको यह निश्चय हो जाता है कि अध्यापककी दृष्टि बड़ी व्यापक और तीखी है, हमारी दाल न गलेगी, हमें सावधान हो ही जाना चाहिए। इससे दूसरा लाभ यह भी होता है कि पाठके प्रारम्भ करते ही छात्रोंकी एकाग्रता मिल जाती है, पाठ ठीक प्रकारसे प्रारम्भ होता है और अँगरेज़ी कहावत 'वेल् बिगन इज़ हाफ़ डन' के अनुसार अच्छे प्रारम्भमें ही आधी सफलता मिल जाती है।

इस प्रारम्भिक दृष्टि-प्रसरणसे अनुपस्थित छात्रोंका पता भी लग जाता है। अनुपस्थित छात्रोंके विषयमें भी पूछताछ करना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु यह पूछताछ भी संक्षिप्त, सहानुभूतिमय होनी चाहिए। जैसे—

आज गोपाल क्यों नहीं आया।

उसकी तबीयत तो ठीक है। आदि

अथवा

क्या आज गोपाल किसी बारातमें चला गया।

कहीं लड्डू-कचौड़ीपर धावा तो नहीं है।

इनमेंसे पहले प्रकारके प्रश्न तो सहानुभूतिमय हैं और पिछले प्रकारके व्यंग्यात्मक। पहले प्रकारके प्रश्नोंसे छात्रोंके मनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि अध्यापककी आँखोंसे कोई बचकर नहीं भाग सकता और वे हम लोगोंका कितना ध्यान रखते हैं। उनके मनमें स्नेहमय, श्रद्धामय आतङ्क बना रहता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि आपके इन प्रश्नोंमें जान करके भी दोष ढूँढनेकी, अपराध लगानेकी अथवा चरित्रहीनता सिद्ध करनेकी गन्ध नहीं होनी चाहिए। अर्थात् आप ऐसे प्रश्न न कर बैठें—

गोपाल कहीं कम्पनी बागमें आम चुराते रह गए क्या।

गोपाल गुल्ली-डंडा खेलते रह गए हैं क्या।

गोपालने सवाल नहीं किए होंगे इसीलिये भागा है।

क्या कहीं सिगरेट फूँकते रह गए हैं।

इस प्रकारके प्रश्न छात्रोंके उस सामूहिक आत्म-सम्मानको ठेस लगाते हैं जो अकारण अपने वर्गके लोगोंके मानापमानसे संबद्ध रहता है। यह स्मरण रखिए कि दूसरेमें दोष निकालनेकी बुद्धि नीचताकी कसौटी है। मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि जो दूसरोंमें दोष देखता है वह स्वयं दोषी होता है।

कभी-कभी आपके इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें छात्र लोग भी कह दिया करते हैं—

मास्टर साहब उसने लिखा नहीं होगा इसीसे नहीं आया—

अथवा

वह ताश खेल रहा होगा। आदि—

ऐसे उत्तरोंको कभी उत्साहित नहीं करना चाहिए वरन् एक सहास व्यंग्यात्मक प्रत्युत्तर-द्वारा उसको वहीं ठंढा कर देना चाहिए। जैसे—अच्छा, जान पड़ता है आज तुम लिख लाए हो।

अथवा

जान पड़ता है उसने आज तुम्हें ताश नहीं खिलाया है, आदि।

इसका तात्पर्य यही है कि आपको न तो छात्रोंमें दोष निकालने चाहिएँ और न छात्रोंको ही इस प्रकार उत्साहित करना चाहिए कि वे अपने साथियोंके दोष निकालें। यदि इस प्रकारकी उत्तेजना अध्यापककी ओरसे कभी छात्रोंको मिल जाती है तो वे आगे चलकर चुग़लख़ोर हो जाते हैं और ऐसे ही लोग देशद्रोही सिद्ध होते हैं।

कभी-कभी छात्रोंसे कुशल-प्रश्न भी कर लेने चाहिएँ। किसीको दुखी, उदास अथवा उद्विग्न देखकर उससे कुशल-मंगल पूछ लेना चाहिए और उसको हँसाकर चेतन कर देना चाहिए।

कुछ अध्यापक कक्षाके किसी छात्रपर विशेष कृपा दिखाते हैं, उसीसे नित्य कुशल-मंगल पूछते हैं और उसके अनुपस्थित

होनेपर बड़ा दुःख प्रकट करते हैं। यह बात सर्वथा अवाञ्छनीय है। चाहे अध्यापक छात्रके वास्तविक गुणके कारण ही उसका पक्षपात करता हो किन्तु उसका अर्थ दूसरा ही लगाया जाता है। यहाँतक कि कभी-कभी उस छात्र और अध्यापकपर चारित्रिक दोष लगा दिया जाता है, उनके सम्बन्धको कलुषित सिद्ध करनेके सटीक और अकाट्य प्रमाण जुटा लिए जाते हैं, उस छात्रके अनेक बीभत्स नाम रख लिए जाते हैं और उसका स्कूलमें रहना कठिन कर दिया जाता है। स्कूलकी दीवारोंपर, सड़कके किनारे, सार्वजनिक सूचना-पट्टोंपर तथा शौचालयोंमें तत्सम्बन्धी विशाल साहित्यका निर्माण होने लगता है। अतः अध्यापकको कभी भूलकर किसी एक छात्रको विशेष कृपापात्र नहीं बनाना चाहिए और न उसके विषयमें कभी विशेष पूछताछ करनी चाहिए। पक्षपात अध्यापकका सबसे बड़ा शत्रु है।

इसके पश्चात् यह देख लेना चाहिए कि छात्र पोथियाँ या पाठ-सम्बन्धी अन्य सामग्री—कापी, कलम, पेन्सिल, रबड़, मानचित्रावली आदि—लाए हैं या नहीं। जो न लाए हों उनकी भी भर्त्सना नहीं करनी चाहिए। उनको प्रेमसे आगे सावधान रहनेका सन्देश दे देना चाहिए। हम आगे एक अध्यायमें नियमित अपराधियों तथा दोषियोंकी व्यवस्था करनेका विधान सुझावेंगे।

ऊपर दी हुई सब क्रियाएँ डेढ़-दो मिनटोंमें समाप्त हो जानी चाहिएँ। ऐसा न हो कि कुशलमंगल पूछनेमें पूरा घंटा ही बीत जावे, पाठ प्रारम्भ करनेका अवसर ही न मिले। इन

आवश्यक प्रारम्भिक क्रियाओं (एसेन्शल प्रिलिमिनरीज़) के पीछे ही पाठ प्रारम्भ होता है।

प्रत्येक पाठके तीन मुख्य भाग होते हैं—१. आरम्भ या प्रस्तावना, २. मध्य या मूल पाठ और ३. अन्त या आवृत्ति।

प्रस्तावना

प्रस्तावनाका अर्थ यह है कि किसी न किसी रुचिकर प्रकारसे छात्रोंके पूर्वसंचित ज्ञानका आधार लेकर उन्हें वहाँ ले जाकर पहुँचा दिया जाय जहाँसे निर्दिष्ट पाठ आरम्भ करना है। इस प्रस्तावनाके द्वारा कोई भी ऐसी बात न प्रकट हो जो अध्यापकको पढ़ानी हो या जो छात्रोंकी समझसे बाहर हो।

प्रस्तावनाके अनेक ढंग हैं। हम किसी पाठकी प्रस्तावना प्रश्नोंसे, चित्रसे, मानचित्रसे, प्रतिकृतिसे, कथा-कहानीसे, दृष्टान्तसे, प्रयोगसे, आंगिक अभिनयसे अथवा अन्य ऐसे किसी प्रकारसे कर सकते हैं। इन प्रकारोंका सफल प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए इसकी विस्तृत मीमांसा हम आगे करेंगे।

मूल पाठ

मूल पाठके अध्यापनके कई अंग हैं। वे हैं पठन, व्याख्या तथा विश्लेषण। इन तीनों अङ्गोंके प्रयोगका सामूहिक उद्देश्य यह है कि छात्र पाठको भली प्रकार समझ सकें, उसे अपना सकें।

पठन

पठनके विषयमें हम 'अध्यापकका कंठ' वाले अध्यायमें पाठकके गुणोंका वर्णन कर आए हैं और हमने 'भाषाकी

शिक्षामें'* इस विषयपर विस्तारसे विचार किया है।

व्याख्या

व्याख्या ही वास्तवमें पाठका जीवन है। व्याख्या जितनी ही कलात्मक और रुचिकर होगी उतनी ही शीघ्र पाठ छात्रोंकी समझमें आ जावेगा। व्याख्या करनेके लिये निम्न-लिखित विधियोंका प्रयोग किया जाता है—

१. प्रश्नोत्तर।
२. वस्तु-प्रदर्शन।
३. चित्र, मानचित्र, मूर्त्ति अथवा प्रतिकृति प्रस्तुत करना।
४. आंगिक अभिनय।
५. श्यामपट्टका प्रयोग।
६. तुलना।
७. उदाहरण।
८. आधारका स्पष्टीकरण।
९. अर्थ देना।
१०. व्युत्पत्ति।
११. कथा।
१२. प्रयोग।

इन विधियोंके उचित प्रयोगका विस्तृत विवेचन आगेके अध्यायोंमें होगा।

किन्तु कुछ थोड़ीसी बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

(१) कक्षामें जीवित जीव-जन्तु—बन्दर, बिल्ली, साँप आदि—प्रदर्शनके लिये कभो न लाने चाहिएँ क्योंकि उनसे या

* भाषाकी शिक्षा—प्रकाशक, हिन्दी-साहित्य-कुटीर, काशी।

तो छात्र डर जायँगे या उनका मन उन्हींमें लग जायगा, पाठ धरा रह जायगा।

(२) अङ्ग-सञ्चालनके विषयमें हम पीछे भी कह आए हैं कि वह ललित, उचित, आवश्यक तथा सोद्देश्य होना चाहिए।

(३) बन्दूक, बारूद, पिस्तौल, विष आदि भयानक पदार्थोंका प्रयोग या प्रदर्शन कक्षामें नहीं करना चाहिए।

भाव-विश्लेषण

प्रश्नोंके द्वारा भाव-विश्लेषण होता है। इसकी मीमांसा भी प्रश्नोंके प्रयोगकी व्याख्या करते समय होगी।

आवृत्ति

पाठकी आवृत्ति दो प्रकारसे होती है, प्रश्नोंके द्वारा तथा घरपर करनेके लिये काम देकर। प्रश्नोंका विचार तो हम आगे करेंगे ही। घरपर करनेके लिये जो प्रश्न दिए जायँ उनके विषयमें कुछ बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. गर्मी और बरसातमें घरपर करनेके लिये कुछ न देना चाहिए। उसकी कमी जाड़ेमें पूरी कर लेनी चाहिए।

२. काम देते समय अध्यापकको यह देख लेना चाहिए कि अन्य अध्यापकोंने कितना काम दिया है। वह लेखा लेकर छात्रोंकी योग्यता और शक्तिके अनुकूल काम देना चाहिए।

३. इसकी भली भाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए कि छात्र स्वयं काम करता है या दूसरोंसे सहायता लेता है। क्योंकि प्रारम्भमें तो यह बात छोटीसी जान पड़ती है किन्तु आगे चलकर यह परावलम्बता उसे आलसी, अकर्मण्य और परमुखापेक्षी बना देती है।

४. घरके लिये दिया हुआ काम ऐसा हो जिसमें बालककी कल्पना और रचना-शक्ति दोनोंका विकास हो, बुद्धि और स्मृतिका उचित शिक्षण हो।

५. यह काम अधिकतर ऐसा हो जो बालकके भावी जीवनमें सहायक भी हो।

अतिरिक्त कार्य

स्कूलोंमें नियमित रूपसे अपना निर्दिष्ट विषय पढ़ानेके अतिरिक्त अध्यापकको दूसरे विषय भी पढ़ानेके लिये दे दिए जाते हैं। यह प्रायः तब होता है जब कोई अध्यापक छुट्टी पर चले जाते हैं। ऐसे कृपा-पाठन (काइण्डली क्लासेज़) में बहुतसे अध्यापक तो इधर-उधर करके घंटा बिता देते हैं, बहुतसे अपना ज्ञात विषय ही पढ़ाने लगते हैं और बहुत कम ऐसे अध्यापक हैं जो उस घंटेके लिये निर्धारित पाठ पढ़ाते हैं या जिनमें वह पढ़ानेकी क्षमता हो।

ऐसे ही अवसरोंपर चतुर अध्यापकोंकी परीक्षा हो जाती है और बड़े बड़े आडम्बरी अध्यापकोंकी पोल भी खुल जाती है। अतः अध्यापकको स्कूलके सभी विषयोंसे थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य होनी चाहिए। यदि अध्यापक चतुर हो और अपनी आँखें खुली रक्खे, स्कूलमें जो कुछ होता हो उसको सावधानीसे देखता-सुनता रहे तो उसे शीघ्र ही सफलता मिल सकती है। यों भी थोड़ा सा स्वाध्याय और सतत ज्ञान-संचय करनेकी रुचि भी उसे शीघ्र ही हरफ़नमौला, जैक औफ़ औल ट्रेड्स तथा सब गुन-गुनी बना सकता है। अध्यापकको स्कूलके सभी पाठ्य विषयोंमें से चुनचुन

कर कुछ ऐसे प्रसङ्ग, चुटकुले, समस्याएँ निकाल लेनी चाहिए जिनका वह ऐसे अवसरोंपर निर्भय और निःशङ्क प्रयोग कर सके।

दूसरी विधि ऐसे अवसरोंके लिये यह है कि वह कुछ ऐसे विधानोंका आश्रय ले जिससे वह कक्षा भरको काममें लगा सके और वह काम ऐसा हो जो छात्रोंका ज्ञान बढ़ावे और उन्हें रुचिकर हो। हम ऐसे विधानोंमेंसे कुछका नीचे उल्लेख करते हैं—

१. अन्त्याक्षरी-प्रतियोगिता। कक्षामें दो दल बना दिए जायँ और प्रत्येक दल अपने प्रतिद्वन्द्वी दलके किसी सदस्य द्वारा कही हुई कविताके अन्तिम अक्षरसे प्रारम्भ होनेवाली कोई कविता कहे। जो अन्तमें न कह सके वह दल पराजित समझा जाय।

२. मानचित्रका अध्ययन (मैपस्टडी)। कक्षामें दो दल बना दिए जायँ। एक दल दूसरे दलके किसी सदस्यसे कोई स्थान मानचित्रपर बतलानेको कहे। यदि वह न बतला सके तो उसका दल पराजित समझा जाय और जीतनेवाले दलको उतने ही नम्बर मिलें। फिर पराजित दलके सदस्य वैसे ही पूछें और यह क्रम घंटे भर तक चलता रहे।

३. घटना-तिथि-विमर्ष—यह इतिहासके घंटेमें किया जाता है। कक्षामें दो दल बना दिए जायँ। वे परस्पर विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओंकी तिथि दूसरे दलवालोंसे पूछें। बता देनेपर बतानेवाले दलको नम्बर मिलें और न बतानेपर पूछनेवाले दलको नम्बर दिए जायँ।

८

प्रश्न करनेकी कला

डिग्रियोंके भारसे लदा ज्ञानलव-दुर्विदग्ध नवीन अध्यापक जब कक्षामें पहुँचता है तो उसका उद्देश्य यही रहता है कि वह जैसे बने वैसे छात्रोंपर अपने पांडित्यकी धाक जमा दे। अनेक पुस्तकों, सूक्तियों, दोहों, कथाओं आदिका आश्रय लेकर वह अपनी वाणीकी टोंटी उदारतासे खोल देता है और उसकी वाणीका जल चौड़े मुँहवाली कलोंके जलके समान छात्रोंको बुद्धिरूपी लुटियोंमें तो कम पहुँचता है, बाहर अधिक गिर जाता है। जो ज्ञान भीतर जाता भी है वह इतनी तीव्र गतिसे पहुँचाया जाता है कि उस वेगके कारण भीतर पहुँचा हुआ ज्ञान भी बाहर उफन पड़ता है। इसीलिये शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि अपनी जीभपर लगाम लगाओ; स्वयं कम बोलो, छात्रोंको अधिक बोलने दो।

पर यदि आपकी जिह्वा अविरल गतिसे चलती चली जायगी तो छात्र बोलेंगे कहाँसे। यह संभव है कि वे थोड़े दिनोंमें ही आपकी विद्वत्ताका दम भरने लगें, आपके पांडित्यका लोहा मान लें। किन्तु साथ ही आपकी वाणीके वेग-सदृश गतिसे ही उनके मनमें यह भावना भी प्रबल होती जायगी कि हम बड़े मूढ़ हैं, कुछ नहीं जानते, मास्टर जैसे विद्वान्

हम नहीँ बन सकते; या मास्टरसाहब विद्वान् तो हैँ पर हमारे कामके नहीँ हैँ। यह भावना बालकोँको धीरे-धीरे इतना आत्महीन बना देगी कि उन्हेँ अपनी शक्तिमेँ, अपने श्रममेँ अश्रद्धा हो जायगी। अतः अध्यापकको चाहिए कि अपनी वाणीका प्रयोग इस प्रकार करे कि छात्रोँमेँ आत्मनिर्भरता बढ़े, उन्हेँ अपनी शक्तियोँका ज्ञान हो, अपनी निरन्तर बढ़ती हुई योग्यताका परिचय हो और उनमेँ यह आत्मविश्वास बढ़े कि हम भी मास्टर साहब जैसे विद्वान् हो सकते हैँ।

छात्रोँमेँ इस आत्मविश्वासको उत्पन्न करनेके लिये शिक्षा-शास्त्रका आदेश है—

स्वयं मत बताओ, छात्रोँसे पूछो।
कहो मत, छात्रोँसे कहलाओ॥

अर्थात् इस प्रकार प्रश्न करो कि पाठ्य ज्ञान स्वयं छात्रोँसे ही कहला लिया जाय, उनकी कल्पना-शक्ति, व्यञ्जना-शक्ति, ग्रहण-शक्ति, समझनेकी शक्ति उत्तेजित हो और अध्यापक स्वयं उपदेष्टा तथा आदेशदाता न बनकर पथ-प्रदर्शक मात्र बना रहे, मार्ग सुझा भर दे, किन्तु उनका हाथ पकड़कर आगे आगे न चले।

प्रश्न निर्माण करना तथा प्रश्न पूछना भी एक कला है। यदि सब प्रकारके प्रश्नोँका अध्ययन किया जाय तो जान पड़ेगा कि जितने प्रकारके प्रश्न होते हैँ वे सभी कामके नहीँ होते। उनमेँसे बहुतसे तो व्यर्थ होते हैँ और कई ऐसे होते हैँ जो ज्ञान-संचय अथवा कल्पनाके विकासमेँ सहायता नहीँ देते। ऐसे अनुपयुक्त प्रश्नोँको त्याज्य प्रश्न कहते हैँ। प्रश्नोँके

विविध प्रकारोंकी मीमांसा करनेसे पूर्व यह भी जान लेना चाहिए कि प्रश्नोंके अवलम्बसे क्या लाभ होता है।

प्रश्न करनेसे छात्रोंमें चेतनता आती है, वे शिथिल, अकर्मण्य, निद्रालु नहीं होने पाते, उनका चित्त एकाग्र रहता है क्योंकि उन्हें प्रतिपल यही चिन्ता लगी रहती है कि कहीं अध्यापक महोदय हमसे न पूछ बैठें। इसलिये वे चौकन्ने रहते हैं, कान खड़े रखते हैं।

प्रश्न करनेसे बालकोंकी कल्पना-शक्ति उद्दीप्त होती है, उनकी चिन्तन-शक्ति बढ़ती है और किस प्रकार तथा कितना उत्तर देना चाहिए इसका भी धीरे-धीरे अभ्यास होता जाता है। इस प्रकार उनकी विवेचना-शक्ति भी उन्नत होती जाती है।

प्रश्न करनेसे छात्रोंमें आत्मविश्वास भी बढ़ता है। दो-चार बार प्रश्नोंका उत्तर देनेसे उनके मनमें यह विश्वास बैठता जाता है कि हमें तो बहुत कुछ आता है। वे अपनेको अन्य अनुत्तरदायी छात्रोंसे श्रेष्ठतर समझने लगते हैं। इस प्रकार छात्रोंकी भाव प्रकट करनेकी शक्तिको तो सहारा मिलता ही है, साथ ही वे खुलकर बोलने लगते हैं, उनका संकोच भाग जाता है, उनका हियाव खुल जाता है, उनका दब्बूपन दूर हो जाता है।

प्रश्न करनेसे सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि छात्र स्वयं सीखता है, अध्यापकका काम भी सरल हो जाता है और उसे आत्मतुष्टि भी होती है। इस प्रकार प्रश्न-प्रणाली सभी प्रकारसे हितकर ही है।

प्राचीन प्रश्न-प्रणाली और वर्त्तमान प्रश्न-प्रणालीमें बड़ा अन्तर हो गया है। पहले छात्र प्रश्न करते थे और अध्यापक उनका समाधान करते थे। उस समयकी शिक्षा-प्रणाली ऐसी व्यवस्थित थी कि छात्रोंको इस योग्य बना दिया जाता था कि वे स्वयं शास्त्रका मनन कर, उसकी उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तताकी मीमांसा करें, अपने परिणाम निकालें और परीक्षा करें। इस प्रकार शास्त्रका अध्ययन करके वे अपनी शंकाएँ गुरुके सम्मुख उपस्थित करते थे और गुरु उन शंकाओंका समाधान करते थे।

यूनानमें वहाँके प्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी तथा विद्वान् श्रीसुकरातने भी इसी प्रणालीका आश्रय लिया था। उनकी विशेषता यह थी कि वे प्रश्नके उत्तरमें ऐसे प्रश्न पूछते थे कि स्वतः उत्तर न देकर पूछनेवालेसे ही उत्तर निकलवा लेते थे। जैसे, यदि कोई पूछे कि ईश्वर कहाँ है, तो महात्मा सुकरातकी प्रणालीके अनुसार तत्काल उससे पूछना चाहिए कि ईश्वर कहाँ नहीं है। बस यहींसे वह पूछनेवाला स्वयं उत्तर देनेवाला बन जाता है।

वर्त्तमान कालकी प्रश्नोत्तर-प्रणाली इन उपर्युक्त दोनों प्रणालियोंसे भिन्न है। आजकल तो सभी पाठ्य विषयोंपर पुस्तकें निर्धारित हैं। छात्र जब उनको पढ़ लेते हैं, चाहे अनुच्छेद-क्रमसे, चाहे परिच्छेद-क्रमसे, तब अध्यापक उस पठित अंशको पक्का करनेके लिये या उसकी आवृत्ति करनेके लिये प्रश्न करता है। एक प्रकारसे यह छात्रोंकी अर्जित ज्ञान-परीक्षाके समान होता है, किन्तु इस प्रश्न-प्रणालीको थोड़ा

सा व्यवस्थित करनेसे छात्रोंके ज्ञान-विकास और मनोविकासमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

हम लोग आजकल जो प्रश्न करते हैं, उनके पाँच उद्देश्य होते हैं—

१. नया पाठ पढ़नेसे पूर्व बालककी ज्ञानपरिधि कितनी है इसकी परीक्षा लेना।

२. पठित अंशको छात्रने कितना समझा है या कितना समझ सकता है इसकी परीक्षा करना।

३. पठित अंशकी आवृत्ति करना।

४. पठित अंशका कितना व्यावहारिक प्रयोग कर सकते हैं इसकी परीक्षा लेना।

५. उनकी कल्पना-शक्ति तथा विवेचना शक्ति कितनी बड़ी है इसकी परीक्षा करना।

इस प्रकार उद्देश्योंके जान लेनेपर प्रश्नोंके प्रकार भी जान लेने चाहिएँ और उनमेंसे कौन कौनसे प्रकार ग्राह्य या त्याज्य हैं इसकी विवेचना भी कर लेनी चाहिए।

१. कुछ प्रश्न परीक्षात्मक प्रश्न (टेस्टिङ्ग या एक्स्प्लारेटरी क्वैश्चन्स) होते हैं। इनका उद्देश्य यह जानना होता है कि बालक नये पाठको ग्रहण कर सकता है नहीं, उसका पूर्व-संचित ज्ञान अथवा आधार-ज्ञान इतना दृढ़ है या नहीं कि वह नवीन पाठके भारको सँभाल सके। ऐसे प्रश्न पाठके आरंभमें ही पूछे जाते हैं, और इनका उचित उत्तर पानेसे यह निर्णय हो जाता है कि बालकका मन पक्का है, वह नया पाठ ग्रहण करनेके लिये सर्वथा उपयुक्त है। इन प्रश्नोंको प्रस्तावनात्मक प्रश्न

या प्रारंभिक प्रश्न (इन्ट्रोडक्ट्री या प्रिपेरेटरी क्वैश्चन्स) भी कहते हैं। ऐसे प्रश्नोंके निर्माणके विषयमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रश्न क्रमिक हों अर्थात् प्रत्येक प्रश्न अपने पूर्ववर्त्ती प्रश्नके परिणामस्वरूप प्रतीत होता हो। दूसरी बात यह है कि प्रश्न छोटे हों, एक धारामें उचित स्वर तथा भावभंगीके साथ कह डाले जायँ और उनके उत्तरमें कोई ऐसी बात न छिपी हो या सम्भावित हो जो अध्यापकको पढ़ानी हो। मान लीजिए हमें ताजमहलपर पाठ पढ़ाना है तो हम परीक्षात्मक प्रश्न इस प्रकार कर सकते हैं—

१. संसारमें कौन कौनसे सुन्दर भवन हैं।

२. इनमें से भारतमें कितने हैं।

३. इनमें भी सबसे सुन्दर कौनसा भवन है।

४. यह भवन कहाँपर है।

यहाँ समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि इसके आगे तो आपको पढ़ाना ही है। अतः आप इसी स्थानपर यह नहीं पूछ सकते—

इसे किसने बनवाया।

क्यों बनवाया। इत्यादि

यद्यपि कक्षामें ऐसे बहुतसे बालक निकल आवेंगे जो इन प्रश्नोंका भी उत्तर दे देंगे किन्तु इससे नवीन पाठके कुतूहलकी निवृत्ति हो जायगी और पाठका रस विरस हो जायगा। अतः प्रारंभिक प्रश्नोंके द्वारा छात्रोंको उस भूमि तक पहुँचाकर छोड़ देना चाहिए जहाँसे नया पाठ प्रारंभ हो अर्थात् उनके मनमें नया ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कंठा, गुदगुदी,

उत्सुकता उत्पन्न कर दी जाय। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये प्रारम्भिक प्रश्न अल्प ही हों क्योंकि प्रस्तावना सूक्ष्म, सीधी, स्पष्ट और रुचिकर होनी चाहिए।

२. दूसरे प्रकारके प्रश्न बोध-परीक्षात्मक या आवृत्यात्मक प्रश्न (टेस्ट क्वेश्चन्स या क्वेश्चन्स ऑफ़ रिवीजन) कहलाते हैं। पाठ या पाठांश पढ़ानेके पश्चात् इन प्रश्नोंके द्वारा यह जाँच की जाती है कि छात्रोंने पढ़ाए पाठ या पाठांशको भली भाँति समझ लिया या नहीं, अथवा जो सिद्धान्त या नियम उन्हें बता दिए गए हैं उन्हें छात्रगण हृदयङ्गम कर सके हैं या नहीं। ऐसे प्रश्न दो काम करते हैं। एक तो इनसे पाठकी आवृत्ति हो जाती है और दूसरे इनसे छात्रोंकी धारणा-शक्तिको भी परीक्षा हो जाती है। नीचे विविध पाठ्य विषयोंके कुछ प्रश्न देकर ऐसे प्रश्नोंका रूप दिखला दिया जाता है—

गणित—चार पैसेके तीन आम तो तीन आने के कितने।

भूगोल—हम कैसे जान सकते हैं कि पृथ्वी सूर्य्यके चारों ओर घूमती है।

इतिहास—चन्द्रगुप्तके राज्य-शासनकी क्या विशेषताएँ थीं।

साहित्य—छै छिगुनी पहुँचौ गिलत, अति दीनता दिखाय।
बलि-बामनको ब्यौंत सुनि, को बलि तुम्हैं पत्याय॥

(अ) उपर्युक्त दोहेमें कौनसी अन्तर्कथा है।

(आ) इस दोहेका क्या भावार्थ है।

संगीत—भैरवीमें कौन कौनसे स्वर लगते हैं।

गृह-विज्ञान—रोगीकी सेवा करते समय परिचारिकाको किन किन बातोंका ध्यान रखना चाहिए।

विज्ञान—भौतिक पदार्थोंपर गर्मीका क्या प्रभाव पड़ता है।

इन प्रश्नोंके विषयमें यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि इनका सम्बन्ध केवल पढ़ाए हुए पाठसे ही हो और उनके द्वारा पाठके केवल महत्त्वपूर्ण अंशोंकी ही परीक्षा हो। यह नहीं कि बालकी खाल निकाली जाय। इनका उद्देश्य यही है कि पढ़े हुए पाठ-सम्बन्धी विचार व्यवस्थित और सक्रम हो जायँ।

३. तीसरे प्रकारके प्रश्न समस्यात्मक प्रश्न कहलाते हैं। इन प्रश्नोंके द्वारा छात्रोंके समक्ष एक समस्या रख दी जाती है। इनका उद्देश्य कल्पना-शक्तिको उद्दीप्त करना होता है। इस प्रकारके प्रश्नोंमें क्यों, कैसे, किसलिये पूछा जाता है। ऐसे प्रश्नोंके द्वारा यह पता चल जाता है कि छात्रोंने जो पढ़ा है उसे गुना भी है या नहीं; वे उसका प्रयोग कर सकते हैं या नहीं। इसका उत्तर देनेमें छात्रोंको सोचना पड़ता है, कार्य-कारण-सम्बन्धकी जाँच करनी पड़ती है और कल्पनाको जगाना पड़ता है। काव्यकी समीक्षाके लिये तो केवल इसी प्रकारके प्रश्नोंका आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकारके प्रश्नोंके रूप विभिन्न विषयोंमें इस प्रकार हो सकते हैं—

गणित—दो पेड़ोंपर अलग अलग कुछ चिड़िएँ बैठी हैं। एक पेड़वाली दूसरे पेड़वाली चिड़ियोंसे कहती है कि यदि तुममेंसे एक हमारे पेड़पर आ जाओ तो हम तुमसे तिगुनी हो जायँ। दूसरे पेड़वाली कहती हैं कि यदि तुममेंसे एक हमारे पेड़पर आ जाओ तो हम तुम्हारे बराबर हो जायँ। बताओ

प्रत्येक पेड़पर कितनी कितनी चिड़ियाँ हैं। (उत्तर—३ और ५)

भूगोल—सूर्यग्रहण अमावास्याके दिन ही क्यों पड़ता है।

इतिहास—मुग़ल साम्राज्यके इतने दृढ़ होते हुए भी उसका पतन क्यों हो गया।

साहित्य—तुलसीदासजीने जनकजीके लिये क्यों कहा है—

भए बिदेह बिदेह बिसेषी।

संगीत—गाया हुआ पद पढ़े हुए पदसे अधिक मधुर, और प्रभावशाली क्यों होता है।

गृह-विज्ञान—रोगीको तापमापकयन्त्र (थर्मामीटर) में ज्वरांश क्यों नहीं देखने दिया जाता।

विज्ञान—एक पंक्तिमें बिछी रेलकी दो पटरियोंके बीच थोड़ा अन्तर क्यों छोड़ दिया जाता है। इत्यादि

४. चौथे प्रकारके प्रश्न हैं विवेचनात्मक प्रश्न (डैवलपिङ्ग क्वैश्चन्स)। अध्यापनका उद्देश्य तो वास्तवमें मस्तिष्कको कुशल बनाना, विचार-शैलीको व्यवस्थित और नियमित करना, भले-बुरेका, उचित-अनुचितका, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका, शुद्ध-अशुद्धका, ठीक-अठीकका सकारण, सयुक्ति, सतर्क निर्णय करना सिखाना है। इस प्रकारके प्रश्नोंका यही उद्देश्य है। ऐसे प्रश्नोंसे बालककी मानसिक प्रगतिका भी पता चल जाता है, क्योंकि वह स्वयं कल्पना करता है, तुलना करता है और परिणाम निकालता है और आपके प्रश्नोंके क्रमके अनुसार बालक अपने भावों और विचारोंको ठीक प्रकारसे तहाकर रखता भी चलता है। अर्थात् इस प्रकारके प्रश्नों से बालकोंके मस्तिष्कका विकास किया जाता है। इन प्रश्नोंकी

रचनामें बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। ऐसे प्रश्नोंकी उपयुक्तताकी परीक्षा तो इसी बातसे जानी जा सकती है कि उनसे बालकोंको कुछ सोचना पड़ रहा है या नहीं। यदि सोचना पड़ रहा हो तो समझना चाहिए कि बाण ठीक चलाया गया है।

इन प्रश्नोंकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। ये स्पष्ट होने चाहिएँ अस्पष्ट नहीं। अर्थात् आप कोई निश्चित बात पूछिए। आपके प्रश्नका एक ही उत्तर हो, कई नहीं। भूगोल-शिक्षणसे एक उदाहरण लीजिए—

अस्पष्ट प्रश्न—हिमालयसे क्या निकलती हैं।

उत्तर—जड़ी बूटियाँ, अनेक धातुएँ, चट्टानें आदि।

स्पष्ट प्रश्न—हिमालयसे कौन सी प्रसिद्ध नदियाँ निकलती हैं।

उत्तर—पंजाबकी नदियाँ, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र।

ये प्रश्न सुबोध होने चाहिएँ अर्थात् आपके प्रश्नोंकी भाषा ऐसी सरल हो कि छात्र उन्हें समझ सकें, वे दुर्बोध न हों। उदाहरण लीजिए—

दुर्बोध—प्रातःस्मरणीय राजपूत कुल-गौरवने स्वकुल-गौरवके रक्षार्थ किन प्रथित साधनोंका अवलम्बन लिया।

सुबोध—महाराणा प्रतापने किस प्रकार अपनी आनको रक्खा।

ये सुगठित होने चाहिएँ अर्थात् इनमें उतने ही शब्द आवें जिनकी परम आवश्यकता हो। व्यर्थके आडम्बरपूर्ण शब्दजालकी भरमार न हो। जैसे—

सुगठित—हर्षवर्धनने किस प्रकार राज्य पाया।

आडम्बरपूर्ण—(१) अच्छा देखें तुममेंसे कौन बता सकता है कि हर्षको कैसे राज्य मिला। बताओ तो जानें।

(२) अच्छा भाई अब यह बताओ कि…………।

(३) हाँ तो अब कह जाओ कि……।

(४) यह तो हमने बता ही दिया है तो तुम झटसे बता तो दो कि…………।

उपर्युक्त प्रश्नोंमें रेखाङ्कित भाग बिलकुल व्यर्थ हैं।

प्रारम्भिक कक्षाओंमें बच्चोंको बढ़ावा देनेके लिये इस प्रकारके प्रश्न कभी कर लिए जायँ तो बहुत बुरा नहीं है किन्तु ऊपरकी कक्षाओंमें तो इस प्रकारके प्रश्नोंसे समय और शक्तिका अपव्यय ही होता है।

चौथी विशेषता यह हो कि ये विषय-संगत हों अर्थात् पाठ्य विषयपर ही हों। यह न हो कि पढ़ा रहे हों चीन और पूछ रहे हों जापान। ऐसी भूल उन अध्यापकोंसे अवश्य होती है जो भली प्रकार तैयारी करके कक्षामें नहीं आते। उन्हें कुछ पूछना चाहिए इसीलिये पूछते हैं। मान लीजिए कोई विज्ञानका अध्यापक न्यूटनके आकर्षण-सिद्धान्तपर प्रश्न करता है—

१. प्रश्न—न्यूटनने आकर्षणका सिद्धान्त कैसे निकाला।

उत्तर—पेड़से सेवका गिरना देखकर।

इस प्रश्नतक तो ठीक है पर यदि इसके पश्चात् अध्यापक यह पूछ बैठे कि—

१. बढ़िया सेव कहाँ पाए जाते हैं।

या

(२) न्यूटन कहाँका रहनेवाला था—

तो ये प्रश्न असंगत या अनर्गल कहे जायँगे। अतः जिस प्रकार कक्षामेँ प्रविष्ट होनेसे पूर्व पाठकी तैयारी करना आवश्यक है उसी प्रकार प्रश्नोँकी तैयारी करना भी आवश्यक है।

पाँचवीं विशेषता यह होनी चाहिए कि प्रश्न उपयुक्त होँ अर्थात् बालकोँकी मानसिक अवस्था तथा उनके ज्ञानसे संबद्ध होँ। उनमेँ उस प्रश्नके उत्तर देनेका सामर्थ्य होना चाहिए।

इन उपर्युक्त गुणोँसे युक्त जो विवेचनात्मक प्रश्न पूछे जायँगे उनसे अवश्य ही छात्रोँकी बुद्धि तथा विवेचना-शक्ति बढ़ेगी। नीचे हम इस प्रकारके विवेचनात्मक प्रश्नोँके कुछ उदाहरण दे रहे हैँ—

साहित्य—निम्नलिखित दो दोहोँमेँ काव्य-रचना, भाव-प्रदर्शन, भाषा और अलंकारकी दृष्टिसे क्या भेद हैँ—

चातक सुतहि सिखावही, आन नीर मत लेय।
मम कुल इहै सुभाव है, स्वाति बूँद चित देय॥

और

चरग-चंगुगत चातकहिँ, नेम प्रेमकी पीर।
तुलसी परबस हाड़पर, परिहै पुहुमी नीर॥

ज्यामिति—दो त्रिभुजोँको समान सिद्ध करनेके लिये कौन कौनसे आधार होने चाहिएँ।

इतिहास—अशोक और अकबर दोनोँको महान् कहा गया है पर इन दोनोँमेँ महत्तर कौन है।

भूगोल—ब्रिटिश द्वीपसमूह और जापानमें किन बातोंमें साम्य अथवा भेद है।

संगीत—वंशी और वीणामें कौनसा यन्त्र श्रेष्ठतर है और क्यों।

गृह-विज्ञान—दक्खिन द्वारवाले घरमें मृत्यु रहती है, इसका वैज्ञानिक कारण क्या है।

विज्ञान—बिजलीसे मनुष्यका उपकार अधिक हुआ है या अपकार। इत्यादि।

इसके पश्चात् उन प्रश्नोंकी बारी आती है जिन्हें त्याज्य समझना चाहिए। ये हैं—

१. समर्थनात्मक प्रश्न—(कौरोबोरेटिव क्वैश्चन्स)। कुछ अध्यापकोंकी बान पड़ जाती है कि वे कुछ कहकर फिर छात्रोंसे पूछते हैं—ठीक है न! ऐसा है न! है न! आदि। ये प्रश्न केवल समर्थन करानेके लिये पूछे जाते हैं। धीरे धीरे ये सखुनतकिया बन जाते हैं। अध्यापकको प्रत्येक बात साधिकार कहनी चाहिए, उसे छात्रोंके समर्थनकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

२. प्रतिध्वन्यात्मक प्रश्न (ईको क्वैश्चन्स)—कुछ लोगोंकी बान होती है कि वे एक बात कहेंगे और झटसे उसपर प्रश्न करके वही बात कहला लेंगे। ऐसे प्रश्न त्याज होते हैं। जैसे—

कथन—मथुराके पेड़े प्रसिद्ध हैं।

प्रश्न—मथुराके क्या प्रसिद्ध हैं।

यदि छात्रने पूर्व कथन ठीक पकड़ पाया है तो वह झट 'पेड़े' कह ही देगा। इस प्रकारके प्रश्नोंसे बुद्धिको तनिक

भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता। पर कभी कभी चुनौतीके रूपमें ऐसे प्रश्नोंका व्यवहार हो सकता है। जैसे—पितृभक्तिका पाठ पढ़ाते हुए अध्यापकने कहा—राम सिद्धान्तकी रक्षाके लिये वनको गए। यदि यह कहकर अध्यापक पूछ बैठे—राम वनको क्यों गए थे, तो इसका उत्तर 'सिद्धान्तकी रक्षाके लिये' न होकर वचन-पालन, पितृस्नेह, पितृभक्ति तथा तदन्तर्गत कथा आदि होगा। अतः ऐसे प्रश्नोंके प्रयोगमें विवेकसे काम लेना चाहिए।

३. हाँ–ना–वाले या अटकली प्रश्न (लीडिंग या गैस् क्वेश्चन्स)। कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं जिनके उत्तर 'हाँ' या 'नहीं' में होते हैं। ऐसे प्रश्नोंके उत्तरमें विना सोचे अटकलसे ही छात्र 'हाँ' या 'नहीं' कह डालते हैं। जैसे—

१. क्या काशीमें गंगाजी बहती हैं। (हाँ)
२. क्या अशोक चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यका पोता था। (नहीं)
३. क्या पीतलके बर्त्तनमें देरतक रहनेसे दही बिगड़ जाता है। (हाँ)
४. क्या सूरदासजी राम-भक्त थे। (नहीं)
५. क्या भैरव रागमें रे धा कोमल लगते हैं। (हाँ)
६. क्या बिजलीकी ए० सी० धारा आदमीको दूर फेंकती है। (नहीं)

उपर्युक्त प्रश्नोंको यदि हम निम्न प्रकारसे पूछें तभी ठीक है—

१. बनारसमें कौनसी नदी बहती है।
२. अशोक किसका पोता था।

३. पीतलके बर्त्तनमें देरतक रक्खा रहनेसे दही कैसा हो जाता है।

४. सूरदासजी किसके भक्त थे।

५. भैरव रागमें कौन कौनसे कोमल स्वर लगते हैं।

६. बिजलीकी ए० सी० धाराको छूनेसे क्या होता है।

यदि अटकली प्रश्न पूछे भी जायँ तो उसके पश्चात् 'क्यों' प्रश्न करके उसका दोष-परिहार हो सकता है किन्तु उसके प्रश्न भी दूसरे ढंग के होते हैं। जैसे—

प्रश्न—क्या चाय पीनी चाहिए।

उत्तर—नहीं।

प्रश्न—क्यों।

उत्तर—क्योंकि उससे पेटकी थैलीपर चायका एक खोल चढ़ जाता है, पाचन-शक्ति बिगड़ जाती है, बुरी लत पड़ जाती है, अनेक प्रकारके मधुमेह आदि रोग हो जाते हैं, बुढ़ापा शीघ्र आ जाता है. आँतें बिगड़ जाती हैं और आगे चलकर माथा घूमने लगता है।

किन्तु यदि हम पहली सूची में से एक प्रश्न लें—

क्या काशीमें गंगाजी बहती हैं—तो इसके उत्तरमें 'हाँ या नहीं' मिल जानेपर भी हम 'क्यों' नहीं पूछ सकते। क्योंकि इस 'क्यों'का कोई उत्तर ही नहीं हो सकता। अतः जिन बातोंमें तथ्यका सन्निवेश होता है वहाँ हाँ-ना-वाले प्रश्न नहीं पूछने चाहिए किन्तु जिन बातोंमें कार्यकारण-सम्बन्ध निहित हो उनपर ऐसे प्रश्न यदि पूछ लिए जायँ तो फिर 'क्यों' पूछकर उसका दोष-परिहार किया जा सकता है।

४. समर्थ-पदलोपी प्रश्न (इलिप्टिकल क्वैश्चन्स)—इस प्रश्नावलीको लुप्तपद-प्रतियोगिता भी कह सकते हैं। इसमें अध्यापक प्रश्न तो करता है पर मुख्य इच्छित पदको छिपा लेता है। यह एक प्रकारसे पहेली बुझौवलका रूप धारण कर लेता है। जैसे प्रयाग राजधानी है······कहाँ की।

(उ०—युक्तप्रान्तकी)

मालवीयजीने काशीमें बनाया—क्या।

(उ०—हिन्दू विश्वविद्यालय)

५. एक और भी प्रकारके निरर्थक प्रश्न होते हैं जिन्हें प्रश्नाभास (रहटौरिकल क्वैश्चन्स) कह सकते हैं। उनका उद्देश्य उत्तर लेना नहीं होता। वे केवल भावोंको उत्तेजित करने के लिये, भाषण-शैलीमें ओज लानेके लिये प्रश्नका रूपक मात्र धारण करते हैं। प्रायः इतिहास और साहित्यके अध्यापक इस प्रश्नाभास शैलीका अधिक प्रयोग करते हैं। उदाहरण लीजिए—

(अ) कौन ऐसा हिन्दू है जो तुलसीदासजीको नहीं जानता। कौन ऐसा भारतीय है जिसने उनका रामचरित-मानस नहीं पढ़ा और कितने ऐसे अरसिक हैं जिन्होंने उनके काव्य-रसमें डुबकी नहीं लगाई, उसका रस नहीं लिया।

(आ) प्रतापके सिवाय और कौन था जिसने मुग़लोंके आगे सिर नहीं झुकाया, कौन था जिसने जंगलोंमें रूखा-सूखा खाकर दिन काट दिए पर यवनोंकी अधीनता नहीं स्वीकार की। कौन ऐसा व्यक्ति है जो आज भी तीन सौ बरसोंके बीतनेपर भी उस नामके जादूसे फूल नहीं उठता, सिर नहीं

उठा लेता। इत्यादि।

यद्यपि उपर्युक्त उद्धरणोंमें प्रश्न ही प्रश्न हैं पर उनके उत्तर अपेक्षित नहीं। यह शैली नेताओं और वक्ताओंके लिये छोड़ रखनी चाहिए। इस प्रकार प्रभावित करनेसे छात्रोंकी विवेचना-शक्ति कुंठित हो जायगी, वे आपकी धारामें बह चलेंगे, उनको निर्णयात्मिका-बुद्धि दब जायगी और यह अनुचित होगा।

ग्राह्य तथा त्याज्य प्रश्नोंकी मीमांसा और व्याख्या कर चुकनेपर प्रश्न करनेके कुछ सिद्धान्त भी स्मरण रखने चाहिएँ—

१. प्रश्न करते समय मुखमुद्रा प्रसन्न हो तथा स्वरका उतार-चढ़ाव भावानुकूल हो।

२. प्रश्न सक्रम हों, संगत हों और सरल वाक्यमें हों अर्थात् उनमें एक ही क्रिया हो अनेक सहायक वाक्य न हों। उदाहरण—

सरल वाक्यमें—रामके वन जानेपर महाराज दशरथने क्या किया।

मिश्र वाक्य—जब राम वनको गए तब महाराज दशरथने क्या किया।

३. भद्दे, कुरुचिपूर्ण अनैतिक विषयोंसे सम्बद्ध प्रश्न न करने चाहिएँ।

४. प्रश्न करके उसे दुहराना न चाहिए। यदि आवश्यक हो तो छात्रोंसे ही उसकी आवृत्ति कराई जाय। अतः प्रश्न स्पष्ट और उचित स्वरसे कहो जिसमें सभी सुन और समझ सकें।

५. बहुत अधिक धुआँधार प्रश्न भी न करने चाहिएँ। इससे बच्चे घबरा जाते हैं, नीरसता आ जाती है और कक्षाका कार्य मशीनके समान एकरस हो जाता है। बीच-बीचमें कथा, कहानी, चित्र-प्रदर्शन आदिका खिचाव देना आवश्यक है।

६. प्रश्नको एक प्रवाहमें कहना चाहिए, तोड़तोड़कर नहीं। जैसे—

एक प्रवाहमें—भारतवर्षकी मुख्य पैदावार क्या है।

तोड़कर—भारत—वर्ष—की मुख्य पैदा—वार क्या है।

७. प्रश्न और उत्तरके बीच इतना समय देना चाहिए कि छात्र सोचकर उत्तर दे सकें। प्रश्न करते ही एकदम अपनी तर्जनीकी पिस्तौल नहीं दिखा देनी चाहिए। किन्तु इतना अधिक समय भी नहीं देना चाहिए कि उत्तरके साथ-साथ छात्रोंका मन गुल्ली-डंडे या पड़ोसके उपवनमें लगे हुए लँगड़े आमके पेड़ोंपर भी रमण करने लगे।

८. प्रश्नका शुद्ध उत्तर पाकर उत्तरदाताकी सराहना करनी चाहिए किन्तु अशुद्ध उत्तर पाकर एकदम उसकी पशुओं पक्षियोंसे तुलना न करने लग जाना चाहिए वरन् उसको उत्साहित करना चाहिए और एकदम अस्वीकृत नहीं करना चाहिए। प्रत्येक उत्तरके साथ सहानुभूतिमय व्यवहार होना चाहिए।

उत्तर किस प्रकार लेने चाहिएँ इसका विधान हम आगे बतावेंगे।

९

उत्तर निकलवानेकी कला

प्रश्न करनेकी कला जान लेनेपर इच्छित उत्तर छात्रोंसे प्रायः मिल ही जाते हैं। किन्तु पूरी सावधानी रखनेपर भी कभी-कभी ऐसे बेतुके, अप्रत्याशित उत्तर मिल जाते हैं कि अध्यापकका बना-बनाया प्रासाद ढह पड़ता है, उसकी प्रस्तावित योजना निष्फल हो जाती है, सब किया कराया मिट्टी हो जाता है। ऐसे समय यदि अध्यापक अकुशल हुआ तो वह हतप्रभ हो जाता है, किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और समझ नहीं पाता कि इस भँवरसे कैसे निकला जाय, इस अनागत विपत्तिसे कैसे उद्धार हो, इस आकस्मिक संकटसे कैसे छुटकारा मिले। ऐसी परिस्थिति प्रायः उस समय अधिक उग्र रूपसे उपस्थित हो जाती है जब निरीक्षक महोदय विद्यालयका निरीक्षण कर रहे हों अथवा विद्यालयके मुख्याध्यापक अपनी विवरण-पुस्तिका (लौग-बुक) भरनेका प्रहसन कर रहे हों। ऐसे अवसरोंपर प्रत्युत्पन्न मतिवाले तो अपनी नाव खेकर पार लगा लेते हैं किन्तु यद्भविष्य लोग भँवरमें पड़ते ही चक्कर खाने लगते हैं और फिर उसी भँवरमें समा जाते हैं। यही तो धीरज धरकर सँभालनेके अवसर हैं। ऐसे समय साहसमें तनिक सी कमी आई कि हाथ-पैर फूले, मुँह सूखा और अगला पैर कहाँ पड़ेगा इसकी भी सुधि नहीं रह

जाती। अतः प्रश्न करनेकी कलासे उत्तरोंके निकलवाने और अशुद्ध उत्तरोंको ठीक करानेकी कला कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि इन उत्तरोंकी उचित व्यवस्थापर ही छात्रोंका ज्ञानविकास तथा ज्ञान-पूर्णत्व अवलम्बित है।

उत्तरोंका विचार करते हुए हमें चार बातोंका ध्यान रखना पड़ता है—

(१) उत्तर किससे लें, (२) किस रूपमें लें, (३) कैसा लें, तथा (४) अशुद्ध उत्तरोंका संस्कार कैसे हो।

उत्तर किससे लें

हम पिछले अध्यायमें कह आए हैं कि अध्यापकको पूरी कक्षासे ही प्रश्न करना चाहिए किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पूरी कक्षा एक साथ एक स्वरमें उसका उत्तर दे। कभी-कभी शब्दोंके ठीक उच्चारणके लिये अथवा पहाड़े कहलानेके लिये एक साथ भी कहलाया जाता है किन्तु वे असाधारण परिस्थितियाँ हैं, उनका सर्वत्र प्रयोग नहीं हो सकता। पूरी कक्षासे प्रश्न करके भी हम एकसे ही पूछते हैं किन्तु वह एक कौन हो यह भी विचारणीय बात है।

जब हम कक्षा भरसे प्रश्न करते हैं तब बहुतसे छात्र एक साथ उत्तर देनेके लिये हाथ उठाते हैं। कभी-कभी ढीले अध्यापकोंके शिष्य उत्तर देनेके लिये 'मैं बताऊँ मास्साब (मास्टर साहब)' कह-कहकर अपने स्थानपर कपि-क्रीड़ाका अद्भुत अभिनय करने लगते हैं। इस कपि-क्रीड़ा और कथनोत्सुक कोलाहलसे साग-सट्टीका लोक-परिचित दृश्य भी आ खड़ा होता है। अतः इसे कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

इससे अविनय फैलता है, निरंकुशता बढ़ती है, अध्यापककी असमर्थता सिद्ध होती है और पार्श्वस्थित अन्य कक्षाओंके पाठमें विघ्न पड़ता है। अतः प्रारम्भसे ही छात्रोंमें यह अभ्यास डाल देना चाहिए कि प्रश्नका उत्तर देनेके लिये वे अपना हाथ उठावें और वह भी आधा। उनके हाथ उठानेमें भी एक शोभा होनी चाहिए, एक सौन्दर्य होना चाहिए। यह न जान पड़े कि ये अध्यापक महोदयपर धावा बोलनेवाले हैं या कलकत्तेके विनिमय बाजार (एक्सचेञ्ज मार्केट) के दलालोंके समान कभी मुट्ठी बाँधकर, कभी पञ्जा खोलकर और नचाकर हाथ फैला रहे हैं।

छात्रोंके हाथ उठानेपर किससे पूछा जाय यह भी एक समस्या है। इस समस्याके समाधानके लिये एक सिद्धान्त है कि प्रश्न कक्षा भरमें बाँट दो। क्रमसे कक्षाके सभी पार्श्वोंके छात्रोंसे प्रश्न पूछो। केवल हाथ उठानेवालोंसे ही नहीं अपितु जो कामचोर हों, पिछड़े हुए हों, उनसे भी कभी-कभी पूछना चाहिए। कमसे कम पिछले पढ़ाए हुए पाठपर तथा आवृत्तिके लिये तो उनसे प्रश्न अवश्य किए जाने चाहिएँ। प्रायः नये अध्यापक उत्तर लेनेके लोभमें उन्हीं छात्रोंसे हेरफेरकर उत्तर पूछ बैठते हैं जो आगेकी पंक्तिमें बैठते हैं और झटककर हाथ उठाते हैं। ऐसा न करके बारी-बारीसे इस क्रमसे प्रश्न पूछने चाहिएँ कि पूरी कक्षा आपके प्रश्नोंसे आक्रान्त होजाय। चौबीस बालकोंकी एक कक्षासे आप किस क्रमसे प्रश्न करेंगे इसका एक मानचित्र हम नीचे दे देते हैं—

इस विषयमेँ कुछ नियम तो हम प्रश्नवाले अध्यायमेँ बता चुके हैँ, कुछ यहाँ बतादेना आवश्यक समझते हैँ। वे नियम ये हैँ—

१. प्रश्न करके सोचनेका समय देकर किसी एक छात्रकी ओर दायाँ हाथ आधा फैलाकर, कलाईको झटका देकर तर्जनी उँगलीसे इङ्गित करो।

यह तर्जनी ऐसी ठीक इंगित करे कि उससे एकका ही बोध हो। यदि उँगलीके साथ नाम भी स्मरण हो तब तो सोनेमेँ सुगन्ध समझो। बहुतसे अध्यापक प्रश्न करके अपना पूरा हाथ फैला देते हैँ मानोँ पिस्तौल दागनेवाले होँ या कभी कभी खुला पूरा हाथ फैला देते हैँ जिससे जान पड़ता है कि

ये किसीका स्वागत कर रहे हैं या परिचय पूछ रहे हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि पूरा हाथ फैलाना अक्षम्य अपराध है। यथावसर उसका प्रयोग भी हो सकता है। यदि आप तर्जनी दिखाकर नाम भी पुकारते हैं तो केवल नाम भर लीजिए 'नारायणप्रसाद'। इसका अर्थ यह होगा कि नारायणप्रसाद तुम बताओ। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नारायण-प्रसाद तुम बताओ।

२. छात्रोंको इङ्गित करते समय यह कभी न कहिए 'आप बताइए'। अध्यापकको अपनी वाणी, आचरण या क्रियासे यह कभी नहीं प्रकट करना चाहिए कि वह अपनेको छात्रों से छोटा समझता है। प्रायः ट्रेनिङ्ग कौलेजों या ट्रेनिङ्ग स्कूलों में पढ़ानेवाले छात्र-शिक्षक अपने भाग्य-विधाता छात्रोंको 'आप' कहकर सम्बोधन करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि छात्रगण अध्यापकके सिर चढ़ जाते हैं। अध्यापकको चाहिए कि अपने छात्रोंको 'तुम' कहकर सम्बोधन करे। दूसरा कारण यह है कि 'तुम' शब्दमें जो आत्मीयता है वह 'आप' में नहीं है। यह नियम केवल स्कूलोंतक ही नहीं अपितु कौलेजोंमें भी प्रयोगमें लाना चाहिए। 'तुम' सम्बोधन करनेसे छात्रों के मनमें भी यह बात बैठती है कि अध्यापक महोदय हमारे आत्मीय गुरु हैं, किन्तु 'आप'का व्यवहार होते ही गुरु और शिष्यके बीच अनायास एक अपार खाई बन जाती है जो 'आप'की पुनरावृत्तिके साथ-साथ चौड़ी होती चली जाती है।

३. छात्रोंको ऐसा अभ्यास करा देना चाहिए कि जिसे

उँगलीका संकेत मिले वह तत्काल अपने स्थानपर सीधा खड़ा हो जाय, चाहे वह उत्तर दे सके या नहीं। साथ ही उनको इतना निर्भीक बना देना चाहिए कि यदि वे उत्तर न दे सकें तो सीधे कह दें 'मैं उत्तर नहीं दे सकता'। यदि छात्र उत्तर देना प्रारम्भ कर दे तो उसे उत्तर देने दीजिए। यह स्मरण रखिए कि आपके पास परिमित समय है, उसका एक एक क्षण आपको काममें लाना चाहिए। अतः यदि उत्तर नहीं मिलता तो रुकिए मत। दूसरेसे पूछिए, तीसरेसे पूछिए और जब ठीक उत्तर निकल आवे तब उन सब छात्रोंसे उस उत्तरकी आवृत्ति करा लीजिए जो उत्तर देनेमें असमर्थ रहे और उनको तबतक खड़ा रखिए जबतक ठीक उत्तर न मिल जाय और वे उसकी ठीक आवृत्ति न कर लें।

४. यदि उत्तर ठीक न मिले तो डाँटो मत, फटकारो मत, नीच-ऊँच न कहो वरन् उसे स्वयं थोड़ा बहुत आश्रय देकर, सूत्र देकर, अन्य छात्रोंसे सहायता दिलाकर उसे ठीक उत्तर देनेको उत्साहित करो। इसके विषयमें हम इसी अध्यायमें 'अशुद्ध उत्तरोंका संस्कार' बताते हुए इसका विशेष निरूपण करेंगे।

अतः यह निर्णय हुआ कि यद्यपि प्रश्न पूरी कक्षासे किया जाय किन्तु प्रश्न एकसे ही करना होता है। किन्तु उसमें यही विचार करना चाहिए कि सदा वही एक उत्तर देनेको बाध्य न किया जाय अपितु बारी बारीसे सभीसे प्रश्न पूछे जायँ और इस प्रकार अपनी मुद्रा रक्खी जाय कि प्रत्येक छात्र सदा यह समझता रहे कि उसीपर तर्जनी ठहरनेवाली है, उसीसे प्रश्न पूछा जानेवाला है।

उत्तर किस रूपमें लें

विलायती शिक्षा-शास्त्रियोंमें इस विषयमें एक व्यर्थका झगड़ा चला हुआ है कि उत्तर किस रूपमें लिया जाय। कुछ लोगोंका कथन है कि उत्तर पूर्ण वाक्यमें हो। दूसरोंका कहना है कि उत्तर एक शब्दमें भी हो सकता है यदि उससे अर्थमें व्याघात न होता हो। हम एक उदाहरण देकर इन दोनों मतोंको स्पष्ट कर देते हैं। एक प्रश्न लीजिए—

प्रश्न—हिमालय कहाँ है।

एक उत्तर—हिमालय पर्वत भारतके उत्तरमें है।

दूसरा उत्तर—भारतके उत्तरमें।

उत्तरकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो दोनों ही उत्तर ठीक हैं। जैसे प्रत्येक प्रश्नके लिये एक उत्तर अपेक्षित है वैसे ही प्रत्येक उत्तरके लिये एक प्रश्न अपेक्षित है। प्रश्न और उत्तरका अन्योन्याश्रय या अपेक्षित सम्बन्ध है। अतः यदि उत्तरके अधूरे वाक्यमें ही सार्थक उत्तर मिल जाता है तो वह प्रश्नकी उपस्थितिके कारण पूर्णतः उचित, शुद्ध और सटीक है। प्रश्नकी उपस्थितिमें वाक्य-पूर्णताके रक्षार्थ लम्बा उत्तर लेनेके लिये माथापच्ची करना केवल शब्दोंका, शक्तिका और समयका अपव्यय करना है।

इसके उत्तरमें इस मतके पक्षपाती कह सकते हैं कि इससे भाषारूपकी शिक्षा भी साथ-साथ मिलती जाती है। उनसे इसके उत्तरमें यही कहना है कि उत्तर और वक्तव्यके रूपोंमें सदा अन्तर रहा करता है और भगवान्‌ने मनुष्यको बुद्धि देकर यह विचारनेकी शक्ति दे दी है कि उत्तर कितना दिया

जाय। यदि आप किसीके घर जाइए और उनके छोटे बच्चेसे पूछिए कि तुम्हारे पिताजी कहाँ गए हैं तो वह चट कह देगा 'स्कूल'; या अधिकसे अधिक 'स्कूल गए हैं'। वह कभी पूरे वाक्यमें उत्तर नहीं देगा। किन्तु यदि आप अपने बच्चेको हेडमास्टर साहबके घर यह कहलानेके लिये भेजेंगे कि मैं आज अस्वस्थ हूँ, सभामें न जा सकूँगा तो बालक जो हेड-मास्टर साहबसे वक्तव्य देगा उसमें यह नहीं कहेगा—'अस्वस्थ हैं, न जा सकेंगे'। वह यही कहेगा कि बाबूजीने कहलाया है कि मैं आज अस्वस्थ हूँ, इसलिये मैं सभामें न जा सकूँगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि कितना उत्तर कहनेसे काम चलेगा कितनेसे नहीं, इसको शिक्षा तो प्रकृति स्वयं अलक्ष्य रूपसे देती रहती है, आपको उसमें दालभातमें मूसरचन्द बननेकी आवश्यकता नहीं है। आपको यही देखना चाहिए कि जो उत्तर मिला है वह प्रश्नकी उपस्थितिको लेकर ठीक, निर्दिष्ट तथा इष्ट अर्थ दे रहा है या नहीं। यदि इष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जाय तो उसे ही पर्याप्त समझकर सन्तुष्ट हो जाना चाहिए। किन्तु साथ ही इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कोई भारत-वर्षको 'भार्तवर्स' कहे या अन्य कोई व्याकरण-सम्बन्धी या भाषा-सम्बन्धी अशुद्धि करे तो आप उसका शासन न करें। हमारा आशय केवल यही है कि पूर्ण वाक्यमें उत्तर लेनेपर बल न दिया जाय।

उत्तर कैसा हो

तीसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्तर किस प्रकारका होना चाहिए अर्थात् उत्तरमें कौनसे ऐसे गुण होने चाहिएँ

जिनके होनेपर कोई भी उत्तर ग्राह्य समझा जा सके। इस दृष्टिसे उत्तरमें ये गुण होने चाहिएँ—

१. व्याकरणसे शुद्ध हो। (ग्रामेटिकली करैक्ट)
२. सार्थक हो। (हैविंग सैन्स)
३. संगत हो। (लौजिकल)
४. आवश्यक हो। (नेसेसरी)
५. प्रासंगिक हो। (रेलेवेण्ट)
६. उचित हो। (प्रौपर)

यद्यपि ये सब गुण ऐसे हैं कि इनकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है फिर भी सोदाहरण इनकी विवेचना करनेसे इनका अन्तर स्पष्ट हो जायगा और नये अध्यापकोंको समझनेमें सुविधा होगी।

जिस प्रकार प्रश्नके लिये यह आवश्यक है कि वह व्याकरणसे शुद्ध हो उसी प्रकार उत्तरके लिये भी यह अनिवार्य्य है कि वह व्याकरण-सिद्ध हो। प्रायः लोगोंकी ऐसी मिथ्या धारणा हो गई है कि व्याकरण-शुद्धताका ध्यान केवल भाषा या साहित्यके शिक्षण और परीक्षणमें ही रक्खा जाय ; अन्य विषयोंके शिक्षण और परीक्षणमें तो तथ्यपर ही विशेष ध्यान देना चाहिए, भाषापर नहीं। किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण और घातक है। सब प्रकारके विचारोंको व्यक्त करनेका साधन भाषा ही है और यदि भाषा ठीक न हुई तो भाव या विचार भी ठीक प्रकारसे व्यक्त नहीं हो पाते। इस प्रकारकी मिथ्या धारणाका प्रचार वे ही लोग करते हैं जिनका भाषासे बहुत कम संपर्क रहा है। जब हिन्दी न जाननेवाले लोग तिकड़मसे

परीक्षक बन बैठते हैं तो उन्हें बरबस परीक्षार्थीको ही अधिकारी मान लेना पड़ता है और यदि वह 'छात्र'को 'क्षात्र' लिख देता है तो द्रव्य-लोलुप परीक्षक उसीको ठीक, शुद्ध, संस्कृत मानकर 'छात्र' लिखनेवालोंको दण्ड दे देता है। इस धाँधलीके युगमें इस प्रकारके उदाहरणोंके लिये अधिक खोज नहीं करनी पड़ती। व्याकरणकी शुद्धतापर सदा बल देना चाहिए और इन अशुद्धियोंको तत्काल टोककर या तो स्वयं उत्तरदातासे ठीक करा लेना चाहिए अथवा अन्य किसी छात्रसे ठीक करा लेना चाहिए। इसीके अन्तर्गत उच्चारणकी शुद्धता भी आ जाती है। मान लीजिए कि एक बालक उत्तर दे रहा है—

'शिवाजी औरंगजेबसे कहे'........' तो आपको तत्काल टोक देना चाहिए और उसे शुद्ध करा देना चाहिए। निरंतर टोकते रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ऐसी व्यापक अशुद्धियाँ ठीक हो जाती हैं।

सार्थक उत्तरका लक्षण यही है कि उससे स्पष्ट रूपसे कथनका अर्थ प्रकट हो जाय। उसमें निरर्थक बातें न हों। एक उदाहरण लीजिए—

प्रश्न—अशोक कौन था।

सार्थक उत्तर—चन्द्रगुप्त मौर्यका पौत्र था और भारतका सर्वश्रेष्ठ सम्राट् माना जाता है।

निरर्थक उत्तर—एक हिन्दू राजा था जिसने प्रजाको बड़ा सुख दिया था।

संगत उत्तरका लक्षण यही है कि प्रश्न और उत्तरमें

संगति दिखाई पड़े। ऐसा न हो कि पूछे आकाशकी कहे पृथ्वी की। उदाहरण लीजिए—

प्रश्न—समास किसे कहते हैं।

संगत उत्तर—जब दो शब्दोंके बीच संबंध बतलानेवाले शब्दोंका लोप करके उन्हें मिलाकर एक शब्द बना दिया जाता है, उसे समास कहते हैं। जैसे दालरोटी। यहाँ 'दाल और रोटी'के बीचका 'और' निकालकर दोनों शब्दोंका समास कर दिया गया है।

असंगत उत्तर—दालरोटी, माँ-बाप, दशानन इन सबमें समास है।

यह दूसरा उत्तर यद्यपि तथ्य और भाषाकी दृष्टिसे शुद्ध है किन्तु असंगत है क्योंकि प्रश्नकर्त्ताने यह नहीं पूछा है कि ऐसे शब्द बताओ जिनमें समास हो वरन् उसने तो यह पूछा है कि समास किसे कहते हैं।

आवश्यक उत्तरका लक्षण यह है कि उत्तरमें केवल उतना ही अंश आवे जितना प्रश्नकी परिधिमें खपता हो। उससे अधिक व्यर्थका शब्दाडम्बर अनावश्यक है। प्रायः परीक्षाओंमें यह देखा जाता है कि छात्र प्रश्नको पूर्ण रूपसे न समझनेके कारण अंट-संट जो कुछ मनमें आता है, लिख डालते हैं। ऐसा उत्तर दे आनेपर वे तो यही विश्वास करते हैं कि हमने बहुत अच्छा लिखा है, सात पन्ने भर दिए हैं, परीक्षककी आँखोंमें धूल झोंक दी है। किन्तु जब उन्हें परीक्षामें असफल होकर निराश होना पड़ता है तब उन्हें आश्चर्ययुक्त दुःख होता है। किन्तु वे यह नहीं समझ पाते कि

उन्होंने अनावश्यक रूपसे अपनी लेखनीको कष्ट दिया है और परीक्षकके समयपर भी छापा मारा है। परीक्षक उसका दंड दिए बिना कैसे मानेगा। अतः शिक्षणके समय ही अध्यापकोंको चाहिए कि यह बता दें कि अनावश्यक बातें उत्तरमें नहीं कहनी चाहिएँ। एक उदाहरणसे यह स्पष्ट हो जायगा—

प्रश्न—राम किसके पुत्र थे।

आवश्यक उत्तर—राम अयोध्याके महाराजा दशरथके पुत्र थे।

अनावश्यक उत्तर—आपने जो प्रश्न किया है उसका उत्तर देना दिनके समान स्पष्ट है। क्योंकि ऐसा कोई भी व्यक्ति न होगा जो रामको या उनके पिताको न जानता हो। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम अयोध्याके महाराजा दशरथके ज्येष्ठ पुत्र थे।

इस उपर्युक्त वाक्यमें रेखाङ्कित अंश बिलकुल अनावश्यक है। इस प्रकारका वाग्जाल प्रायः वे ही लोग रचते हैं जिनके पास मुख्य सामग्रीका अभाव होता है। इस प्रकार शब्दोंके अनावश्यक अपव्ययको आश्रय नहीं देना चाहिए।

इसी प्रकार प्रासंगिक उत्तरमें भी यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रश्नमें एक विषयका जितना अंश पूछा गया है उतना ही उत्तर दिया जाय। जो छात्र रट्टू होते हैं वे प्रायः इस रोगके आखेट हो जाते हैं। वे प्रश्नको भली भाँति देखे बिना ही उस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाले पाठको अथसे इतितक कह या लिख डालते हैं और अपनी स्मृति-शक्तिकी इस स्वामि-भक्तिपर वे निश्चिन्त हो जाते हैं। पर ज्ञानकी पिटारी पूरी खोल देनेपर

भी जब परीक्षककी लाल पेन्सिल तीक्ष्णताके साथ गुणाके चिह्न बनाने लगती है तब परीक्षार्थीपर बड़ी करुणा आती है। अतः शिक्षकोंका यह भी कर्त्तव्य है कि छात्रोंको यह बतलावेँ कि प्रासंगिक उत्तर किस प्रकार देना चाहिए। इसका भी एक उदाहरण दे देना उचित होगा—

प्रश्न—निम्नलिखित दोहेमेँ किस रसका निरूपण हुआ है-

डिगत पानि डिगुलात गिरि ब्रजजन मे बेहाल।
कंप किसोरी-दरसतेँ खरे लजाने लाल॥

प्रासंगिक उत्तर—इस दोहेमेँ शृङ्गार रसका निरूपण हुआ हुआ है।

अप्रासंगिक उत्तर—इस दोहेमेँ रति स्थायी भाव है, राधिकाजी या 'किसोरी' आलम्बन विभाव हैँ, उनका 'दरस' (दर्शन) उद्दीपन विभाव है, 'कंप' सात्त्विक अनुभाव है और 'लजाना' संचारी या व्यभिचारी भाव है। इससे सिद्ध होता है कि इसमेँ शृङ्गार रसका निरूपण हुआ है।

उपर्युक्त दूसरा उत्तर अशुद्ध नहीँ है किन्तु पूछनेवालेने यह तो प्रश्न किया नहीँ है कि इसमेँ क्योँ शृङ्गार रसका निरूपण है। वह तो केवल रसका नाम भर चाहता है।

अन्तिम बात यह है कि उत्तर उचित हो। उचितका अर्थ यह है कि वह कम या अधिक न हो। अवसर तथा छात्रोँकी मानसिक अवस्थाका ध्यान करके ही उत्तरके औचित्य या अनौचित्यका निर्णय होना चाहिए। मान लीजिए हाइ स्कूलकी सबसे ऊँची कक्षामेँ आपको सीताजीकी अग्निपरीक्षाका परिचय छात्रसे लेना है तो इतना ही कहलाना पर्याप्त होगा

कि रावणको मारकर रामने सीताजीको अग्निमें प्रवेश कराया और इस प्रकार सबके सामने उनके पातिव्रत्यकी पवित्रता सिद्ध कर दी। किन्तु छोटी या प्रारम्भिक कक्षाओंमें इसीको अधिक विस्तारसे कहलाना होगा।

उत्तरके औचित्यमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि छात्रगण अश्लील या भद्दे रूपसे उत्तर न दें। कभी कभी छात्रगण उन शब्दोंका प्रयोग भी कर देते हैं जिन्हें हम साहित्यमें या सभ्य-समाजमें नहीं प्रयोग करते। जैसे एक शब्द है 'कचरकुट्ट करना' (भोजन करना)। इसका प्रयोग ग्राम्य समझा जाता है। इसी प्रकार भकोसना (खाना) भी है। यदि कोई छात्र आपके प्रश्न करनेपर यह उत्तर दे कि रामने वनमें कन्द, मूल, फल भकोसे तो यह उत्तर अनुचित है।

इस प्रकार उत्तरोंकी भली भाँति जाँच करके ठीक प्रकारसे उत्तर देनेका अभ्यास छात्रोंको करा देना चाहिए। बहुतसे विद्यालयोंमें ऐसी प्रथा है कि अध्यापकगण परीक्षाओंके लिये बनाए हुए अपने प्रश्नपत्रोंके आदर्श उत्तर भी लिखकर प्रस्तुत करते हैं। यह प्रथा अत्यन्त स्तुत्य है। और हमारा अनुभव है कि जहाँ जहाँ इस प्रथाका धर्मवत् पालन हुआ है वहाँके छात्रोंके उत्तर अत्यन्त शुद्ध, व्यवस्थित, उचित और नियमित होते हैं।

अशुद्ध उत्तरोंका संस्कार

अध्यापकोंकी साधारण प्रवृत्ति यही होती है कि अशुद्ध उत्तर पाते ही वे उत्तरदाताको पशु-समाजमें प्रविष्ट कर देते हैं, अनेक अपशब्दोंसे उसका स्वागत करते हैं और उसको

ऐसी प्रबल भर्त्सना करते हैं कि उसका सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है और दूसरी बार शुद्ध उत्तर देनेमें भी उसको हिचक होती है। हम पहले भी यह बात कह आए हैं कि किसी भी अशुद्ध उत्तरको तत्काल त्याज्य कहकर अस्वीकार नहीं कर देना चाहिए वरन् प्रेम भावसे, नम्रतासे उसे ठीक उत्तर देनेके लिये उत्साहित करना चाहिए और यथासम्भव उसे सहायता देकर उससे ठीक उत्तर कहलाना चाहिए।

किन्तु इससे पूर्व यह जानना भी अत्यन्त आवश्यक है कि उत्तरकी प्रकृति क्या है।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, केवल विचार या भावकी तथ्यता ही सब कुछ नहीं है वरन् वे भाव या विचार जिन शब्दोंका बाना पहनकर लोकके सम्मुख आते हैं उनका भी बड़ा महत्त्व है। अतः दो प्रकारकी अशुद्धियाँ ही उत्तरमें देख पड़ती हैं एक तो भाषाकी और दूसरे तथ्योंकी। भाषाकी अशुद्धि होते ही तत्काल उसे दूसरे छात्रोंसे अथवा स्वयं ठीक कर देना चाहिए। यदि किसी छात्रका बताया हुआ अशुद्ध उत्तर श्यामपट्टपर अंकित कर दिया गया हो तो उसे बहुत देरतक वहाँ नहीं रहने देना चाहिए वरन् यथाशीघ्र उसे शुद्ध करके लिख देना चाहिए। शिक्षा-शास्त्रका एक प्रमुख सिद्धान्त है कि अशुद्धिको छात्रोंके सम्मुख आने ही नहीं देना चाहिए और यदि किसी प्रकार वह आ जाय तो उसे तत्काल शुद्ध कर देना चाहिए। यह बात भाषा और तथ्य दोनोंके विषयमें समान रूपसे लागू है। अध्यापकको स्वस्थ-चित्त होकर यह देख लेना चाहिए कि जो उत्तर मिल रहे हैं

उनका यथार्थ रूप छात्रोंके सम्मुख रक्खा गया है या नहीं और यदि उसमें तनिक भी त्रुटि हुई हो तो उसका तत्काल परिमार्जन कर देना चाहिए। इसीलिए प्रमुख शिक्षाचार्य्योंका कथन है कि कक्षामें उन्हीं छात्रोंसे पाठ पढ़वाना चाहिए जिनका उच्चारण शुद्ध हो, स्वर स्पष्ट हो, और लय व्यवस्थित हो। इसी प्रकार उत्तरके विषयमें भी कह सकते हैं कि पहले सुन्दर उत्तर देनेवाले छात्रोंसे उत्तर कहलाना चाहिए और फिर उसकी आवृत्ति अन्य पिछड़े हुए छात्रोंसे करा ली जावे। आगे चलकर इसमें एक यह कठिनाई हो सकती है कि बहुतसे पिछड़े छात्र सदा इसी ध्यानमें रहेंगे कि हमें तो केवल आवृत्तिमात्र करनी है और इसलिये वे पाठपर कम ध्यान देंगे। इसलिये समय समयपर, बीच बीचमें ऐसे छात्रोंको भी उकसाते रहना चाहिए। और यदि उनसे अशुद्ध उत्तर बन पड़े तो उनके संशोधनमें इतना समय भी न लगा देना चाहिए कि पाठमें विघ्न हो और अन्य चतुर छात्रोंको गोली बनाने, चित्र खींचने या अन्य ऐसी ही किसी दुर्वृत्तिमें लग जानेका अवकाश मिले।

जैसे प्रश्नके लिये यह आवश्यक है कि वह सर्वबोध और सर्वमान्य हो अर्थात् उसे सब सुन और समझ सकें वैसे ही उत्तरके लिये भी यह आवश्यक है कि वे इतने उच्च स्वरसे कहे जायँ कि और ऐसी भाषामें कहे जायँ कि उन्हें कक्षाके अन्य छात्र सुन और समझ सकें।

कुछ अध्यापकोंकी यह प्रवृत्ति होती है कि वे प्रश्नके उत्तरकी स्वतः आवृत्ति कर देते हैं। ऐसा करना तो सर्वथा

अनुचित है। किन्तु कभी-कभी ठीक उत्तर पा जानेपर उसकी आवृत्ति कर देनेकी बान भी कुछ अध्यापकोंको पड़ जाती है, इसे सर्वथा अनुचित तो नहीं कहा जा सकता पर सर्वथा मान्य भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस बानसे उन छात्रोंको प्रश्रय मिल सकता है जो स्वतः अकर्मण्य होते हैं और उत्तर देनेमें जी चुराते हैं। वास्तवमें चाहिए तो यह कि आप अपने व्यवहारसे बालकोंका ऐसा हियाव खोल दें कि उन्हें उत्तर देनेमें भय न प्रतीत हो वरन् वे स्वच्छन्दतापूर्वक शुद्ध या अशुद्ध कैसा भी उत्तर देनेके लिये सदा उत्सुक रहें। यह तभी हो सकता है जब उन्हें यह विश्वास हो जाय कि अशुद्ध उत्तर देनेपर उनकी गणना भारवाही पशुओंमें न होगी और अध्यापककी लाल आँखें और कठोर वाणी उन्हें भस्मसात् करनेका अभिनय न करेंगी।

जैसा कि हम कह आए हैं, अशुद्ध उत्तर पानेपर हमें छात्रोंको डाँट-डपटकर, मूर्ख या गदहा न कहकर उन्हें उत्साहित करना चाहिए पर इसकी भी उचित सीमा निर्धारित हो जानी चाहिए। सीमाका अतिक्रमण करके बार बार "शाबाश, बहुत अच्छा, ठीक कह रहे हो, बहुत ठीक, कोशिश करो" इत्यादि शब्दों और वाक्योंका अत्यन्त उदारतापूर्वक प्रयोग नहीं करना चाहिए। इससे प्रारम्भमें बालकोंकी श्रद्धा भले ही प्राप्त हो जाय किन्तु इसके द्वारा विद्यार्थी अध्यापककी कोमलताको उसकी दुर्बलता समझ सकते हैं और उसका दुष्प्रयोग भी कर सकते हैं। अतः इस विषयमें सोच समझकर विवेकसे काम लेना चाहिए। हमारे कहनेका यह तात्पर्य

नहीं है कि सदा लल्ला-मुन्ना कहकर ही, पीठ ठोंककर ही छात्रोंसे न बरता जाय वरन् कोमलताकी रक्षा करते हुए आवश्यकता पड़नेपर उन्हें तनिकसा डाँटा भी जा सकता है और स्निग्ध भर्त्सना भी की जा सकती है। इसका प्रभाव यही होना चाहिए कि छात्रोंके मनमें श्रद्धा और प्रेम तो ज्योंका त्यों बना रहे, साथही यह भय भी बना रहे कि मास्टर साहब कठोर भी हो सकते हैं। वे फूल-से कोमल होने पर भी वज्रके जैसे कठोर हैं।

कभी-कभी अशुद्ध उत्तर पानेका कारण हमारे प्रश्न भी होते हैं। अतः यदि इस कारणसे उत्तर न मिल रहा हो या अशुद्ध मिल रहा हो तो अपने प्रश्नको कई विभागोंमें विभक्त करके सरल बना लेना चाहिए अर्थात् अध्यापकको यह जाननेका प्रयत्न करना चाहिए कि छात्रको उत्तर देनेमें जो कठिनाई हो रही है उसका मूल कारण क्या है। मूलके मिल जानेपर फिर उत्तर निकलवानेमें बड़ी सुविधा होती है। कभी कभी तो अशुद्ध उत्तर मिलनेका कारण एकाग्रताका अभाव ही होता है अतः उसका समाधान तो प्रश्नकी आवृत्ति करानेसे ही हो जाता है। यह आवृत्ति किसी अन्य छात्रके द्वारा करानी चाहिए, स्वयं नहीं। कभी-कभी हमारी शीघ्रतासे भी अशुद्ध उत्तर मिलते हैं। अर्थात् जब हम छात्रोंको सोचनेका अवसर नहीं देते और प्रश्न करते ही उसे उत्तर देनेको बाध्य करते हैं तब वह विवश होकर कुछ न कुछ प्रायः अशुद्ध ही कहता है। इस सोचनेकी क्रियाको आश्रयकी आवश्यकता होती है। तनिकसा अवलम्ब दे देनेसे, सूत्र थमा देनेसे छात्रकी

बुद्धि राजमार्गपर पहुँच जाती है और उसे फिर किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती।

शिक्षा-शास्त्रियोंका कहना है कि कभी-कभी छात्रोंको भी प्रश्न करनेका अवसर देना चाहिए। इससे उन्हें प्रश्न करनेकी कला आती है, उनका साहस बढ़ता है, भाषा संयत होती है और ज्ञान भी बढ़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अध्यापकके व्यवस्थित उत्तरको सुनकर उन्हें भी व्यवस्थित उत्तर देनेकी कला आ जाती है। किन्तु इसका फल कभी कभी उल्टा भी हो सकता है। कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ तो हो नहीं सकता और सभी छात्र भी भले आदमी नहीं हो सकते। वे तो ऐसा अवसर ताकते रहते हैं कि वे कब अध्यापकको मूर्ख बनावें। अतः यह अधिक सम्भव है कि किसी दिन वे ऐसे प्रश्न कर बैठें जिनका उत्तर देना अध्यापकके सामर्थ्यके वाहर हो अथवा उसकी ज्ञानकी परिधिकी पहुँचसे परे हो। सच्चा अध्यापक 'मैं नहीं जानता' कहकर सत्यकी रक्षा भले ही करले किन्तु छात्रोंके मनमें उसकी अल्पज्ञताका एक भ्रामक रूप स्थिर हो जाता है और वह ऐसे अवसरोंकी पुनरावृत्तिसे अधिक दृढ़तर होता चला जाता है।

संक्षेपमें हम इतना ही कह सकते हैं कि उत्तर निकलवानेके लिये कोमल व्यवहारकी और धैर्यकी आवश्यकता है। जिसमें जितना ही धैर्य होगा उसे आगे उतनी ही सफलता मिलेगी।

१०

दृश्य विधानोंका प्रयोग

प्रश्न करने और उत्तर निकलवानेकी कलाओंका विशद विवेचन पढ़कर किसी भी अध्यापकको प्रश्न मात्रसे पाठन-क्रम चलानेका प्रलोभन हो सकता है और इस प्रलोभनमें विवेककी तनिक सी कमीके कारण कितनी हानि हो सकती है इसका उसे सम्भवतः शीघ्र अनुमान भी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अत्यन्त सुस्वादु भोजन अति मात्रातक कर चुकनेपर उससे विरक्ति हो जाती है उसी प्रकार निरन्तर प्रश्न करते रहनेसे भी कक्षामें नीरसता और उचाट हो जाना असम्भव नहीं है। प्रश्न सुनते-सुनते और उत्तर देते-देते छात्रोंका जी ऊब जाता है। इसीलिये शिक्षाशास्त्रका विधान है कि केवल मुख और कानोंका ही अनवरत प्रयोग न हो, आँखों और हाथोंका भी प्रयोग किया जाय। शरीरके विभिन्न अंगोंका भी उचित प्रयोग किया जाय। कलाकारकी मुद्रावाले प्रकरणमें हम मुख-मुद्रा और अंग-संचालनके विषयमें पर्याप्त रूपसे कह चुके हैं, अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ है। किन्तु अंग-संचालनके अतिरिक्त भी कुछ ऐसे दृश्य-विधान हैं जिनका प्रयोग करनेसे कक्षामें आनन्दका समावेश हो सकता है, छात्रोंकी रुचि पाठकी ओर बढ़ाई जा सकती है, उनका ध्यान आकर्षित किया जा सकता है और पाठको सरस, सरल, सुबोध तथा सुन्दर बनाया जा

सकता है। प्रदर्शनके इन सभी साधनोंकी सामूहिक संज्ञा दृश्य विधान है।

दृश्य विधानके औचित्य और उसके प्रयोगकी चर्चा छेड़नेसे पूर्व ही यह संकेत दे देना उचित होगा कि—अति सर्वत्र वर्जयेत्—

अतिका भला न बरसना, अतिकी भली न धुप्प।
अतिका भला न बोलना, अतिकी भली न चुप्प॥

जैसे अधिक प्रश्न करना हानिकर है वैसे ही अधिक दृश्य विधानोंका प्रयोग करना भी अवाञ्छनीय है। कक्षा न तो प्रदर्शनी है न चित्रशाला या विचित्रशाला। वहाँ छात्रोंके शीघ्रबोध तथा प्रत्यक्षबोधके लिये जो उपादान एकत्र किए जायँ वे उतनी ही मात्रामें हों जितनेकी अत्यन्त आवश्यकता हो। यदि आपको जापानवालोंकी विचित्र वेश-भूषाका ज्ञान कराना हो तो किसी जापानवासीका एक बड़ा चित्र दिखाना पर्याप्त होगा। ऐसा न किया जाय कि किसी पुस्तकालयसे जापान-सम्बन्धी दृश्योंका चित्र-संग्रह लाकर एकके पीछे दूसरा चित्र दिखा दिखाकर घंटा बिता दिया जाय। आप यह स्मरण रखिए कि छात्र तो यही चाहेंगे कि आप उन्हें तमाशा दिखाते रहिए, वे न थकेंगे, न जँभावेंगे, न अँगड़ाई लेंगे, न जूते रगड़ेंगे। और यदि उन्हें कहीं बीचमें यह ज्ञात हो जाय कि आप लाए तो बहुत सी सामग्री हैं पर उनमेंसे बहुत कमका प्रयोग किया है तब तो वे आपकी जान भारी कर देंगे और ऐसा हल्ला मचावेंगे कि आपको झख मारकर उनकी बात माननी ही पड़ेगी। यदि आप कुछ कड़े हुए और उनकी बात न मानी,

अपने रौबसे उन्हें शान्त कर दिया तब उसका कुफल यह होगा कि वे चुप तो हो जायँगे किन्तु आगेके पाठमें उनका ध्यान न लगेगा, आपका परिश्रम निष्फल जायगा। अतः इस विषयमें कुछ महत्वपूर्ण बातें स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. प्रदर्शनकी सामग्री उचित तथा आवश्यक मात्रामें कक्षामें ले जानी चाहिए।

२. प्रदर्शनकी सामग्री प्रदर्शन करनेके पश्चात् उलटकर, समेटकर या छिपाकर रख दो अन्यथा सम्मुख रहनेसे छात्रोंका ध्यान उधर ही लगा रहेगा।

३. प्रदर्शन करनेमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए और न आवश्यकतासे अधिक विलम्ब ही करना चाहिए।

४. प्रदर्शन-सामग्री इतनी बड़ी हो कि कक्षाके सभी छात्रोंके नेत्र उसका बिम्ब ग्रहण कर सकें। यदि प्रदर्शन-सामग्री छोटी हो तो उसे या तो हाथमें लेकर कक्षामें घूम घूमकर दिखा देना चाहिए या एक एक छात्रको बारी बारीसे बुलाकर दिखाना चाहिए।

५. यदि किसी प्रदर्शन-सामग्रीके विभिन्न अंगों या उसपर स्थित किन्हीं विशेष स्थानोंका परिचय देना हो तो सूचकदंड (पौइंटर)का प्रयोग करना चाहिए।

प्रदर्शन-सामग्री

पाठ्यक्रमके विभिन्न विषयोंके शिक्षणमें निम्नलिखित दृश्य उपादानोंका प्रयोग किया जाता है—

१. चित्र अथवा चित्रमय पोथियाँ—(साहित्य, इतिहास,

भूगोल, विज्ञान, गृह-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, चित्रकला, शिल्प आदिके शिक्षणमें)

२. मानचित्र—(इतिहास, भूगोल आदिके शिक्षणमें)

३. रेखाचित्र (डायग्राम)—(गणित— विशेषतः ज्यामिती, भूगोल, चित्रकला, शिल्प, साहित्य इत्यादिके शिक्षणके लिये। ये रेखाचित्र श्यामपट्टपर खींचकर भी प्रदर्शित किए जा सकते हैं और बने बनाए भी दिखाए जा सकते हैं। श्यामपट्टपर खींचनेके सम्बन्धमें हम श्यामपट्टवाले प्रकरणमें आगे बतावेंगे।

४. सरणि (चार्ट)—(इतिहास, गणित, गृहविज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान, संगीत, विज्ञान आदिके शिक्षणमें)

५. प्रतिकृति (मौडल)—(साहित्य, इतिहास, गणित स्वास्थ्य-विज्ञान, विज्ञान, गृह-विज्ञान, भूगोल, शिल्प, चित्रकला, हस्तकौशल आदिके शिक्षणमें)

६. खिलौने—(भाषा या साहित्य, गृह-विज्ञान, शिल्प, चित्रकला तथा प्रारम्भिक कक्षाके बालकोंको खेलके द्वारा शिक्षा देनेके लिये)

७. बौल फ्रेम—(प्रारम्भिक कक्षाओंमें गिनती और पहाड़ा सिखलानेके लिये);

८. बालोद्यान-पेटी (किंडरगार्टन बौक्स)—(छोटे बच्चोंको अक्षर और अङ्क सिखानेके लिये)

९. मोहन पेटी—(छोटे बच्चोंको भाषा-रचना सिखानेके लिये)

१०. मुद्राएँ (सिक्के)—(इतिहासके शिक्षणके लिये)

११. चित्र-विस्तारक यन्त्र (एपिडायस्कोप)—(भूगोल,

इतिहास तथा वैज्ञानिक विषयोंकी शिक्षाके लिये)

१२. चित्र-प्रदर्शक यन्त्र (मैजिक लैण्टर्न)—(प्रायः सभी विषयोंके शिक्षणके लिये)

१३. चलचित्र-प्रदर्शक (फ़िल्म प्रोजेक्टर)—(ऐतिहासिक, वैज्ञानिक या भौगोलिक वर्णनोंका ज्ञान कराने के लिये)।

१४. प्रयोग तथा क्रिया–प्रदर्शन (एक्स्पैरिमेण्ट ऐण्ड डिमौन्स्ट्रेशन)—(प्रायः वैज्ञानिक विषयोंके शिक्षणके लिये)

उपर्युक्त दृश्य विधानोंमेंसे प्रायः दो-चार विधानोंका प्रयोग तो व्यापक रूपसे किया जाता है किन्तु जिन विद्यालयोंमें धनाभाव नहीं है और जहाँ वर्त्तमान वैज्ञानिक साधन एकत्र करनेकी सतत चेष्टा रहती है वहाँ प्रायः सभी साधनोंका प्रयोग किया जाता है। किन्तु हमारा अपना अनुभव है कि जिन विद्यालयों में इस प्रकारकी व्यवस्था भी है वहाँके अध्यापक भी उन उपकरणोंका उचित प्रयोग नहीं करते। उसका कारण यही है कि उनमें स्वतः न तो उन सामग्रियोंके उपयोग करनेकी प्रवृत्ति होती है न यह जाननेकी इच्छा ही होती है कि हमारे विद्यालयमें कितनी सामग्री है और उसका किस प्रकार और कितना प्रयोग करना चाहिए। दुःख तो यह है कि इन कामचोरोंमें बहुतसे तो शिक्षण-शास्त्रकी शिक्षा पाए हुए तथाकथित ट्रेण्ड अध्यापक भी होते हैं। आलस्य और अहम्मन्यताके मारे ये अपने चारों ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहते, कूपमंडूकतामें ही उन्हें आत्मतुष्टि मिलती है।

अब हम यह विचार करेंगे कि इन उपर्युक्त विधानोंका किस प्रकार और कितना प्रयोग करना चाहिए।

चित्र

अमूर्त्तकी अपेक्षा मूर्त्त वस्तुएँ हमारे हृदय-पटलपर गहरा और स्थायी प्रभाव डालती हैं। इसीलिये बालकोंकी—विशेषतः छोटे बालकोंकी शिक्षामेँ चित्र, प्रतिकृति तथा खिलौने अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होते हैं। यहाँतक कि वर्णमालाओंका परिचय भी शिशुओंको चित्र-द्वारा ही कराया जाता है। यही नहीं, शिक्षा-संसारमेँ प्रसिद्ध कथोपकथनप्रणाली तथा सहज प्रणाली (डाइरेक्ट मेथड) में तो चित्रोंका बहुत प्रयोग किया जाता है। शिक्षामेँ सचित्र पुस्तकोंकी आवश्यकता भी इसी कारण पड़ती है।

इसके अतिरिक्त कुछ विषय तो ऐसे हैं जिनका पाठन चित्र आदिके अभावमेँ अपूर्ण ही रहता है। ऐसे विषयोंमें भूगोल तथा इतिहास प्रमुख हैं।

पहले भूगोलको ही लीजिए। मान लीजिए अध्यापक विद्यार्थियोंको उत्तरीय ध्रुवके निवासियोंका रहन-सहन पढ़ा रहा है। वह उनकी वेशभूषाका स्पष्ट आभास अपने विद्यार्थियोंको कराना चाहता है। परन्तु वह यह कार्य्य केवल भाषा-द्वारा नहीं कर सकता। वह चाहे दिन भर बोलता रहे पर विद्यार्थी सम्यक् लाभ कभी न उठा सकेँगे। परन्तु यदि वह किसी एस्किमोका चित्र विद्यार्थीको दिखला दे तो उसका उद्देश्य तुरंत सिद्ध हो जाय और इस प्रकार समय और श्रम दोनोंकी बचत हो।

पर सभी कार्य्य चित्र-द्वारा ही नहीं होते। जैसे एस्किमोकी वेशभूषाका तो परिचय चित्र-द्वारा कराया जा सकता है परन्तु

उसके निवास-स्थान का नहीं। एस्किमो लोग किस प्रकारके घरोंमें निवास करते हैं यह यदि विद्यार्थियोंको चित्र-द्वारा समझानेका प्रयत्न किया जायगा तो वह विफल होगा। चित्र केवल 'इगलू'की बाह्य बनावटका रूप हमारे सामने रख देगा। परन्तु यदि हम प्रतिकृतिका प्रयोग करेंगे तो निःसंदेह आशातीत सफलता मिल सकती है। अतः यह विवेक कर लेना चाहिए कि कहाँ चित्रका प्रयोग करना चाहिए कहाँ प्रतिकृतिका।

यही बात इतिहासके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिए। अध्यापक यदि केवल यह कहकर विद्यार्थियोंका संतोष कर देता है कि अकबर हिन्दुओंकी तरह रहता था तो विद्यार्थी भी उसकी यह बात इस कानसे सुनकर उस कानसे निकाल दे सकते हैं। परन्तु यदि अध्यापक अकबर और औरंगजेबके चित्रोंकी तुलना करते हुए अकबरके हिन्दू वेशका चित्र दिखलाता है तो उसका स्थायी प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

किन्तु चित्र भी कई प्रकारके होते हैं। कुछ कई रंगवाले होते हैं, कुछ काले-धौले; कुछ बड़े होते हैं, कुछ छोटे; कुछ सानुपात होते हैं, कुछ निरनुपात; कुछ में वर्ण्य विषय स्पष्ट और बड़े बड़े होते हैं, कुछमें छोटे और घिनके। रंगवाले चित्र सदा आकर्षक होते हैं। रंगीन वस्तुओंसे तथा रंगोंसे मनुष्यको स्वाभाविक प्रेम है और यह प्रेम उसे ईश्वरने संस्कारतः दिया है। दिनमें तो प्रातः-कालसे लेकर सन्ध्यातक आकाशमें न जाने कितने रंगोंसे न

जाने कौन चितेरा कितने अद्भुत चित्र पल-पलपर बनाया और मिटाया करता है किन्तु अन्धकार-मयी रात्रिमें भी शून्य आकाशमें टिमटिमाते हुए दीप अनेक रंगोंमें प्रकाश दे जाते हैं। कक्षामें बैठनेवाले छात्र भी उस नैसर्गिक प्रभावसे बच नहीं पाते और उनको भी रंगोंसे प्रेम हो जाता है। रंगीन चित्रोंके पश्चात् काले-धौले चित्रोंकी बारी आती है। ये चित्र भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो वे जिनमें गहराईकी छाया भी होती है और दूसरे केवल रेखा-चित्र होते हैं जिनमें केवल रेखाओंसे वर्ण्य रूपोंका चित्रण होता है, गहराई स्पष्ट नहीं हो पाती। इनमेंसे गहराईवाले चित्र बालकोंको अधिक अच्छे लगते हैं। चित्रोंके शेष गुणोंके विषयमें इतना और जान लेना चाहिए कि चित्र जहाँतक सम्भव हों बड़े हों, जिसमें कक्षाके सब छात्र देख सकें। जहाँ देरतक चित्रका प्रयोग करके विशेष ज्ञान देना हो वहाँ तो चित्र अवश्य ही बड़े होने चाहिएँ।

कभी-कभी बाजारोंमें ऐसे-ऐसे निरनुपात चित्र भी होते हैं जिनमें वर्ण्य वस्तुओंके अनुपातका कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा जाता, जिनमें सिर बड़ा, धड़ छोटा, पाँव लंबे लंबे। कभी बड़े विचित्र चित्र भी देखनेको मिलते हैं। पीपलके पेड़के चित्रमें पत्ते इतने बड़े-बड़े चित्रित किए जाते हैं कि यदि उन पत्तों और उसके तनेका अनुपात लगाकर एक पीपलके पेड़की कल्पना की जाय तो वास्तविक वृक्षका पत्ता कमसे-कम एक हाथ लंबा-चौड़ा होगा। छात्रोंके सम्मुख ऐसे कलाहीन और बेतुके चित्र कभी नहीं दिखलाने चाहिए। बिना चित्रके पढ़ाना

अच्छा है किन्तु भद्दे, बेढंगे और अनुपातविहीन चित्रोंका दिखाना सर्वथा अनुचित है।

चित्रोंके प्रयोगके विषयमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि प्रदर्शनीय चित्रोंमें उतने ही विषय हों जिनका प्रयोग अध्यापक करना चाहता हो। बम्बई, कलकत्ता, मद्रासकी मैक-मिलन्स कम्पनीने शिक्षा-सम्बन्धी चित्र (एजुकेशनल पिक्चर्स) छापे हैं वे प्रायः सभी बातोंमें आदर्श समझे जा सकते हैं।

बड़े चित्रोंके अभावमें छोटे चित्रोंका प्रयोग भी किया जा सकता है किन्तु उसके विषयमें हम ऊपर ही कह आए हैं कि ऐसे चित्रोंको घूम-घूमकर छात्रोंको दिखा देना चाहिए।

चित्रोंके सम्बन्धमें एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि चित्रोंका प्रदर्शन किस प्रकार हो। इसका एक बड़ा सीधा और सरल उत्तर यही है कि चित्र खूँटीपर, कीलपर या चित्राधारपर टाँग देना चाहिए। हाथमें लेकर कैलेण्डर या दवा बेचनेवालोंके समान उसका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। चित्राधार या खूँटीपर चित्रको टाँगकर सूचक-दंडके द्वारा निर्दिष्ट विषयोंका परिचय छात्रोंको करा देना चाहिए।

मानचित्र

मानचित्रोंका प्रयोग इतिहास और भूगोलके लिये ही प्रायः होता है। ये भी प्रायः दो प्रकारके होते हैं—एक तो भित्ति-मानचित्र और दूसरे मानचित्रावली। मानचित्रावलियाँ (ऐटलस) तो छात्रोंके पास रहती हैं अतः उनके प्रदर्शनका तो प्रश्न ही नहीं उठता। जिस प्रकार कोशका प्रयोग बहुत कम छात्रोंको आता है, उसी प्रकार मानचित्रोंका प्रयोग भी बहुत कम छात्रोंको

आता है। अध्यापकोंको चाहिए कि वे छात्रोंको यह भली भाँति सिखा दें कि अक्षांश और देशान्तरका पता पाकर मानचित्रों-पर स्थित स्थानोंको कैसे ढूँढ सकते हैं। प्रायः इस सम्बन्धमें कभी अधिक कठिनाइयाँ नहीं होतीं क्योंकि जब कोई स्थान भित्ति-मानचित्रपर दिखला दिया जाता है तो छात्रोंको उसे ढूँढ़नेमें कोई कष्ट नहीं होता। मानचित्रोंके प्रयोगमें कभी कंजूसी नहीं करनी चाहिए क्योंकि इतिहास-भूगोलका शिक्षण मानचित्रके बिना अधूरा रह जाता है या यों कहो कि होता ही नहीं अतः मानचित्रके प्रयोगके विषयमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती।

सरणि

सरणिका प्रयोग तिथिका ज्ञान करानेके लिये इतिहासमें तथा वैज्ञानिक ब्योरोंका ज्ञान करानेके लिये वैज्ञानिक विषयोंके शिक्षणमें किया जाता है। इतिहासका एक काल पढ़ा देनेपर घटना-तिथि तथा शासन-तिथियोंका ब्यौरा इसके द्वारा दे दिया जाता है। इसकी सहायतासे छात्रोंको पाठ स्मरण करनेमें सुविधा होती है। इस सरणिको समय-सरणि कहते हैं।

एक दूसरे प्रकारकी भी सरणियाँ होती है जिन्हें सरणि न कहकर विश्लेषणात्मक रेखाचित्र कह सकते हैं। प्रायः स्वास्थ्य-विज्ञान पढ़ाते हुए मानव-शरीरके विविध अंगोंकी बनावट, उनकी भीतरी रचना आदिके जो चित्र होते हैं उन्हें भी सरणि ही कहते हैं। ऐसी सरणियोंसे पाठ्य विषयके शिक्षणमें भी सरलता होती है और छात्रोंको समझनेमें भो बड़ी सुविधा होती है। एक अध्यापक एक बार

'मांसाहारी पौधे' शीर्षक पाठ पढ़ा रहे थे, पर वह पाठ वनस्पति-विज्ञानकी पुस्तिकाका न होकर भाषाकी पुस्तकमें था। उन पौधोंमें एक पिचरप्लांट (घड़ा-पौधा) भी था। अध्यापक बेचारा स्वयं यह नहीं समझ पा रहा था कि वह उस पिचर-प्लांटकी किस प्रकार व्याख्या करे। अन्तमें उसने कह ही दिया कि वह पौधा घड़ेके समान होता है। एक धूर्त्त छात्रने टोका—क्यों मास्टर साहब, घड़ेके जैसा पौधा कैसा होता है। मास्टर साहब सिटपिटा गए, ठीक उत्तर देकर उसका समाधान न कर सके और एक दिन की छुट्टी भी लज्जावश ले ली। उसके दूसरे दिन एक दूसरे अध्यापकको वह पाठ पढ़ानेको मिला तो उन्होंने अँगरेजी विश्व-कोष (ब्रिटिश एन्साइक्लोपीडिया) उलटा और विश्वविद्यालयके वनस्पति-शास्त्र-विभागसे मांसाहारी पौधोंकी सरणि ले आए और छात्रोंको समझा दिया। इस प्रकार उनका भी ज्ञान बढ़ा और छात्रोंका ज्ञान भी पक्का हो गया, अन्यथा वे बालक जन्मभर यही समझते रहते कि घड़ेके आकारका गोल और खोखला एक ऐसा पौधा होता है जो जीव-जन्तुओंको मार-मारकर खाया करता है। अतः जहाँतक इस प्रकारकी व्याख्यात्मक तथा विश्लेषणात्मक सरणियाँ प्राप्त हो सकें वहाँतक उनका भली प्रकार धड़ल्लेसे प्रयोग करना चाहिए।

प्रतिकृति

चित्रोंके प्रयोगका विचार करते हुए हम यह भी कह चुके हैं कि कहीं-कहीं चित्रसे वर्ण्य वस्तुका भली प्रकार परिचय नहीं दिया जा सकता। ऐसे स्थानोंपर प्रतिकृतिका

प्रयोग अत्यन्त समीचीन होता है। बहुतसे विश्व-प्रसिद्ध भवनों, महापुरुषों, जानवरों अथवा अन्य प्रसिद्ध तथा अद्भुत वस्तुओंकी मिट्टी, काठ तथा धातुओंकी बनी हुई प्रतिकृतियाँ सरलतासे प्राप्त हो जाती हैं। इनके प्रदर्शनसे कक्षामें अधिक रोचकता आ जाती है।

प्रायः मानव-शरीरके विभिन्न अंगोंकी काठकी प्रतिकृतियाँ बनी बनाई मिलती हैं। उनके द्वारा शरीर-शास्त्र पढ़ानेमें पढ़ानेवालेको भी सुविधा रहती है और पढ़नेवालोंको भी। गणितमें भी घनवर्ग, गोलार्द्ध इत्यादिके शिक्षणमें प्रतिकृतिसे लाभ हो सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि ये प्रतिकृतियाँ न तो बहुत बड़ी हों और न भारी हों क्योंकि इनको लाने-ले जाने, उठाने-धरनेमें व्यर्थकी झंझट होगी। किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि ये प्रतिकृतियाँ लखनवी खिलौनोंकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म हों। प्रतिकृतियाँ इतनी बड़ी अवश्य हों कि उनकी बनावट, उनके आकार और उनके विभिन्न अंग कक्षाभरको दृष्टिगोचर हों।

खिलौने

खिलौनोंका प्रयोग छोटी कक्षाओंमें होता है। किन्तु इन खिलौनोंमें वे गेंद-बल्ले, फिरकी, लट्टू, झुनझुने आदि नहीं आते जिनसे बालक अपनी माँकी गोदमें ही खेलते हैं। यहाँ खिलौनोंसे तात्पर्य भी उन प्रतिकृतियोंसे ही है जो छात्रको किसी अप्रस्तुत वस्तुका सूक्ष्म रूप देकर उसकी विशालताकी कल्पना करनेमें सहायक हों—जैसे, वायुयान, रेलगाड़ी, मोटर, जलयान आदि अथवा अन्य ऐसे ही खिलौने जिनसे भाषाकी

पोथियोंमें आई हुई अपरिचित संज्ञाओंका प्रत्यक्ष बोध कराया जा सके। जिस प्रकार चित्रोंका बहुत प्रयोग करना अवाञ्छनीय है उसी प्रकार खिलौनोंका बहुत प्रयोग भी अनुचित है। हाँ, जहाँ उसी खिलौनेपर ही पाठ आश्रित हो वहाँ उसका प्रयोग किया ही जा सकता है।

गणित-कन्दुक (बौल .फ्रेम)

प्रारम्भिक कक्षाओंमें गिनती और पहाड़े सिखलानेके लिये गणित-कन्दुकका प्रयोग किया जाता है। कई रंगोंकी लकड़ीकी गेंदें एक लकड़ीके ढाँचेमें लोहेकी सीकोंमें दस-दसकी संख्यामें पिरोई रहती हैं। प्रारंभिक पाठशालाओंमें इसका उचित प्रयोग सफलता-पूर्वक किया जा सकता है।

बालोद्यान-पेटी (किंडरगार्टन बौक्स)

बालोद्यान पेटी वास्तवमें जर्मन शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेल महोदयका आविष्कार है। उन्होंने सोच-विचारकर कुछ ऐसे विभिन्न आकारके लकड़ीके टुकड़ोंका आविष्कार किया जिनसे भाषा और गणितकी शिक्षा सरलतासे दी जा सकती है। इन खिलौनोंको फ्रोबेलकी देन भी कहते हैं। इन्हींका आश्रय लेकर पं० देवीदत्तने भारतीय भाषाओंकी शिक्षाकी दृष्टिसे एक दूसरे ही प्रकारके भिन्न-भिन्न आकृतिके २४ लकड़ीके टुकड़ोंका आविष्कार किया जिनके द्वारा भारतीय भाषाओंके तथा अँगरेजीके सब अक्षर और अंक बन सकते हैं और इसके अतिरिक्त अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंकी आकृतियाँ भी बन सकती हैं। प्रारंभिक श्रेणीके शिशुओंके लिये यह अत्यन्त लाभकर सिद्ध हुआ है। इसमें शिशुओंका

मन भी लगता है किन्तु अध्यापकको सदा यह देखते रहना चाहिए कि कहीं शिशु अपनी सहज प्रवृत्तियोंका आज्ञाकारी सेवक होकर क ख ग बनानेके बदले साँप-बिच्छू तो नहीं बनाने लग रहा है। बालोद्यान (किंडरगार्टन) प्रणालीके समर्थकोंका तो यह कहना है कि छात्रोंको यह सामग्री देकर छोड़ देना चाहिए, वे स्वतः निर्माण करेंगे और प्रकृत रूपसे सीखते चले जायँगे। किन्तु अनुभवी लोगोंका यह कथन है कि शिशुओंको उचित प्रकारसे निर्देश देते रहना चाहिए अन्यथा परिणाम यह हो सकता है कि बालक घर बनाना, नदी बनाना और पुल बनाना तो सीख जायँगे पर बेचारा 'अ' मुँह बाए बैठा रहेगा, उसकी पूछतक न होगी।

मोहन-पेटी

मोहन-पेटी महामना पं० मदनमोहन मालवीयजीके नाम-पर टीचर्स ट्रेनिंग कोलेज्, काशीमें लेखक-द्वारा ही आविष्कृत हुई है। इस पेटीमें एक स्लेट, एक खाँचीदार पटिया और तीन डब्बे हैं जिनमें १३५ घर बने हुए हैं। इन घरोंमें देवनागरी अंक, अक्षर, मात्राएँ तथा प्रचलित शब्द मोटे कागज़पर छपे हुए रहते हैं। इसी पेटीमें ढकनेके नीचे एक पोथी लगी रहती है। इसमें निम्नलिखित क्रमसे शिक्षणका विधान है।

(अ) मौखिक शिक्षा—अंक, अक्षर या शब्द जिस क्रमसे घरोंमें भरे हों, उन्हें याद करना।

(आ) अनुरचना—पुस्तक देखकर घरोंमेंसे अक्षर या अंक निकाल-निकालकर खाँचीदार पटियापर जमाना और फिर उनको देखकर स्लेटपर लिखना।

(इ) दृष्टानुरचना—अध्यापक-द्वारा श्यामपट्टपर लिखे हुए शब्दों अथवा वाक्योंको देखकर घरोंमेंसे अक्षर निकालकर खाँचीदार पटियापर द्रुत गतिसे जमाना। फिर पुस्तक देखकर अपनी अशुद्धियाँ ठीक करना और उसकी प्रतिलिपि स्लेटपर करना।

(ई) श्रुत रचना—घरोंसे अक्षर निकालकर उनसे अध्यापक-द्वारा बोले हुए शब्दों या वाक्योंको बनाकर खाँचीदार पटियामें बैठाना और फिर उनको पुस्तकमेंसे देखकर शुद्ध करना और स्लेटपर लिखना।

(उ) श्रुतलेख—अध्यापक-द्वारा बोले हुए वाक्यों अथवा शब्दोंको सुनकर शीघ्रता तथा शुद्धतासे स्लेटपर लिखना।

इस प्रणालीसे स्वतःशिक्षा भी होती है, हाथ, आँख, कान एक साथ सध जाते हैं और वर्त्तमान मनोवैज्ञानिक शिक्षाका क्रम भी बना रहता है। छात्र भी इसमें रुचि दिखलाते हैं और भाषा-रचनाके साथ-साथ मुद्रणयन्त्रके लिये रचना करनेका अभ्यास भी हो जाता है।

मुद्राएँ (सिक्के)

प्रायः इतिहासके शिक्षणमें सभी शासकोंके वर्णनमें यह कह दिया जाता है कि उसने अमुक प्रकारकी मुद्रा चलाई, दूसरेने अमुक प्रकारकी। किन्तु यदि हम इतना कहनेके बदले वे मुद्राएँ प्रस्तुत कर दें तो छात्रोंकी रुचि तो बढ़ेगी ही, उनका ज्ञान भी बढ़ेगा। कभी-कभी कुछ शासकोंके गुणोंका वर्णन उनकी मुद्राओंसे ही किया जाता है। जैसे समुद्रगुप्तके विषयमें

यह कहा जाता है कि वह वीणा बजा सकता था और उसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। इसके प्रमाण उसकी क्रमशः वे मुद्राएँ हैं जिनपर वह वीणा बजाता हुआ बैठा है और जिनपर 'अश्वमेध पराक्रमः' गुप्तब्राह्मीमें लिखा है। इस प्रकार इतिहासके अन्य शासकोंके विषयमें भी मुद्राओंके द्वारा बहुत सा ज्ञान दिया जा सकता है।

चित्र-विस्तारक यंत्र (एपिडायस्कोप)

यह एक बिजलीकी मशीन है जिसमें स्लाइडें भी लग सकती हैं और पुस्तकके चित्र भी लगाकर बड़े दिखाए जा सकते हैं। ये चित्र प्रकाश और लैन्सके सहारे आगे टँगे हुए श्वेत परदेपर दिखाई पड़ते हैं। इसके प्रयोगसे कक्षामें आनन्द तो आता है किन्तु एक तो ये मशीनें बड़ी मँहगी होती हैं फिर इनकी बत्ती बिगड़ जाय तो उसका बदलवाना कठिन होता है और उसको चलानेमें भी बड़ा कौशल चाहिए।

चित्रदर्शक (मैजिक लैण्टर्न)

इसमें स्लाइडें लगती हैं। ये स्लाइडें चौकोर काँचकी होती हैं। इनपर चित्र बने रहते हैं। एक सटकने ढाँचेमें डालकर इन्हें प्रकाश और लैन्सके बीचमें पहुँचा देते हैं बस उसका सौगुना चित्र सम्मुख परदेपर दिखाई पड़ने लगता है। यह मशीन सस्ती भी होती है और हलकी भी। इसका चलाना भी सरल होता है और इसमें गैसकी बत्तीसे भी काम लिया जा सकता है। सरकारके स्वास्थ्य विभागवाले इन मशीनोंका प्रयोग स्वास्थ्य-प्रचारके लिये अधिक किया करते हैं।

चलचित्र-प्रदर्शक (फ़िल्म-प्रोजेक्टर)

इस मशीनके द्वारा चलते-फिरते चित्र दिखलाए जाते हैं। युक्तप्रान्तमेँ लखनऊमेँ एक प्रत्यक्ष-शिक्षा-सभा (विजुअल इन्स्ट्रक्शन सोसाइटी) है जो शिक्षा-सम्बन्धी चलचित्रोँके द्वारा शिक्षा देती है। ये मशीनेँ बड़ी मँहगी, बड़ी झमेलेवाली होती हैँ किन्तु यदि कुशल अध्यापक हो तो इसका सरलतासे प्रयोग कर सकता है। इसी प्रकारकी एक मशीन और भी होती है जिसमेँ चलते चित्र नहीँ दिखलाए जाते। यह कुछ सस्ती और चलानेमेँ सरल होती है। किन्तु इन सबका प्रयोग सामूहिक शिक्षाके लिये कक्षाके बाहर सन्ध्या समय करना चाहिए। अन्यथा कक्षामेँ शिक्षण भाग तो व्यर्थ जाता है और केवल तमाशा ही तमाशा रह जाता है। मशीनोँका प्रयोग यथासंभव कम करना चाहिए और वास्तवमेँ अच्छे अध्यापक कभी मशीनोँका प्रयोग करते ही नहीँ, उन्हेँ आवश्यकता ही नहीँ पड़ती। ये तो वास्तवमेँ उन अध्यापकोँके विशेष कामकी होती हैँ जिन्हेँ विषयका कम ज्ञान हो, भाषा आती न हो और कक्षाको वशमेँ करनेकी बुद्धि न हो।

प्रयोग तथा क्रिया-प्रदर्शन (एक्सपैरिमेंट तथा डिमौन्स्ट्रेशन)

इसके विवेचनकी विशेष आवश्यकता नहीँ है। जिन बातोँका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रयोग करके दिखाया जा सकता हो उन्हेँ प्रत्यक्ष करके दिखा देना चाहिए। वैज्ञानिक विषयोँके शिक्षणके लिये तो यह अनिवार्य्य साधन है किन्तु कभी-कभी साहित्य पढ़ाते समय भी क्रिया-प्रदर्शनकी आवश्यकता होती है। एक दोहा लीजिए—

नर की अरु नलनीरकी, गति एकै कर जोय।
ज्यौं ज्यौं ऊँचो ह्वै चढ़ै, त्यों त्यौं नीचो होय॥

यद्यपि इसका अर्थ सीधा है किन्तु यदि यह बात प्रयोग-द्वारा दिखला दी जाय तो इसका भाव अधिक स्पष्ट हो जायगा। किन्तु ऐसे अवसरोंपर भी विवेकसे काम लेना चाहिए। मान लीजिए आप अपभ्रंशका निम्नलिखित दोहा पढ़ा रहे हैं—

चूड़उ चुण्णी होइ सहि मुद्धि कवोलि निहत्तु।
सासानलिण झलक्कियउ वाहसलिल संसत्तु।

हे सखी! गालोंपर हाथ रखनेसे कलाईकी चूड़ियाँ चूर चूर हो जायँगी क्योंकि साँसोंकी लपटोंसे ये गरम हो रही हैं और आँसुओंका जल इन्हें सींच रहा है।

उपर्युक्त दोहेमें यद्यपि यह बात भी सिद्ध होती है कि गरम काँचपर पानी लगनेसे काँच तड़क जाता है किन्तु यहाँ विरहका आधिक्य ही इसमें व्यङ्ग्य है। यदि आप वास्तवमें विरहिणी नायिकाको भी पकड़कर ले आवेंगे तब भी आप उसकी साँसोंकी भट्टीसे काँच नहीं तपा सकते। अतः वैज्ञानिक विषयोंके अतिरिक्त जिन विषयोंके शिक्षणके लिये आप प्रयोग या क्रिया-प्रदर्शन करना चाहें वहाँ विवेकसे काम लीजिए।

इस प्रकार व्याख्याके दृश्य-विधानोंका विवेचन कर चुकनेपर अगले अध्यायमें हम व्याख्याके वाच्य विधानोंका विवेचन करेंगे।

११

व्याख्याके वाच्य विधान

पिछले अध्यायमें हमने चित्रसे लेकर आधुनिक वैज्ञानिक मशीनोंतकके प्रयोगका विस्तृत ब्यौरा दे दिया है किन्तु हम यह बात कभी नहीं भूले हैं कि ये व्यवस्थाएँ और इतनी सामग्रियाँ उन्हीं विद्यालयोंमें उपलब्ध हो सकती हैं जिनके पीछे जायदादें लगी हों या जिनपर सरकारकी विशेष कृपा-दृष्टि हो। किन्तु शिक्षा-प्रचारके झोंकमें गावों, बस्तियों और नगरोंमें जिस प्रकारके टटपुँजिए विद्यालयोंकी बाढ़ आ रही है उनमें इनमेंसे कभी कोई सामग्री पा सकनेकी आशा करना विडम्बना मात्र है। यह तो अत्यन्त हर्षकी बात है कि देशमें जागर्त्ति है, लोग धीरे-धीरे अँगड़ाई लेकर, जम्हाई लेकर आँखें खोल रहे हैं, अपनेको पाश-मुक्त करनेके लिये फड़फड़ा रहे हैं किन्तु इन सब क्रियाओंके पीछे जो दूषित स्वार्थपूर्ण मनोवृत्ति कार्य्य कर रही है वह इस प्रकारका भी संकेत दे रही है कि यदि इन अनैतिक स्वार्थपूर्ण हाथोंमें भारतके यशस्वी और आदरणीय अतीतकी थाती सौंप दी गई तो ये हाथ उसे सँभाल न सकेंगे, अविलम्ब उसे रसातलमें पहुँचानेकी व्यवस्था कर डालेंगे। यह बात कोई छिपी हुई नहीं है कि नये विद्यालयोंके व्यवस्थापकगण अध्यापकोंके साथ जिस

जघन्यताका व्यवहार करते हैं वह निन्द्य है। अध्यापकोंको भरपेट भोजनके योग्य वेतन तो दिया नहीं जाता किन्तु उससे अधिकपर उनसे हस्ताक्षर करा लिए जाते हैं। उन्हें वेतन दिया जाता है पचास रुपये और उनसे रसीद ली जाती है अस्सीकी। किन्तु परिस्थितियोंके सताए हुए अध्यापकोंमें भी इतना आत्मबल, नैतिक साहस नहीं रह गया है कि वे इस बेइमानीका विरोध करें। हमारे पूरे समाजमें दीमकें लग गई हैं, उसे सुधारनेके लिये एक कठोर दंडधारीकी परम आवश्यकता है, लोक-तन्त्रके विषैले वायुमंडलमें वह निश्चय ही अधिक सड़ता चला जायगा। ऐसे आत्मबल-हीन व्यक्तियोंके द्वारा शासित विद्यालयोंमें शिक्षाके आवश्यक उपकरण भला कैसे जुट सकते हैं।

इसका एक और भी कारण है। वह यह है कि विद्यालयकी इन प्रबन्ध-कारिणी-समितियोंके सदस्य शिक्षा-शास्त्रसे कोरे होते हैं। इनमें कोई व्यापारी, कोई वकील, कोई निठल्ले महाजन और कोई कोई बिगड़े रईस होते हैं और जब ये लोग शिक्षा-सम्बन्धी विषयोंमें प्रधानाध्यापक अथवा स्कूलके अन्य अधिकारियोंको अपनी सम्मति यह कहकर देने लगते हैं कि यदि हमने ब्याह नहीं किया तो बारातें तो देखी हैं तब तो इनपर हँसी आती है और बेचारे भारतपर तरस आता है। जब कभी अध्यापकगण सहायक पुस्तकोंकी सूची, मान-चित्र अथवा वैज्ञानिक यन्त्रोंके मँगानेके लिये प्रबन्ध-कारिणी-समितियोंसे प्रार्थना करते हैं तो वहाँसे यही उत्तर मिलता है—'मास्टरजी, रुपया कहाँसे आवे. किसी प्रकार काम चला-

इए। इतना सामान लेकर क्या करिएगा।' ऐसी परिस्थितियाँ प्रायः निन्यानबे प्रतिशत विद्यालयोंमें उपस्थित होती हैं। अतः ऐसे विद्यालयोंमें पढ़ानेवाले अध्यापकोंको अन्य विधानोंका आश्रय लेना ही पड़ेगा। शिक्षा-क्षेत्रमें भी दृश्य विधानोंको 'धनी अध्यापकोंके चोचले' (रिच टीचर्स' लग्ज़रीज) कहा जाता है। इस अध्यायमें हम उन वाच्य विधानोंका विवेचन करेंगे जिनका कोई भी अध्यापक सरलतासे प्रयोग कर सकता है। हलदी लगै न फिटकरी और रंग आवे चोखा। इन विधानोंमें केवल कण्ठ और मुखका ही प्रयोग होता है इसलिये इन्हें वाच्य विधान कहा जाता है।

हम पीछे कह आए हैं कि कथन, तुलना, उदाहरण, आधार, अर्थ, व्युत्पत्ति, कथा आदि व्याख्या करनेके अनेक विधान हैं। पाठको अधिक मनोरम बनानेके लिये इन सभी उपायोंका प्रसंग तथा आवश्यकताके अनुकूल प्रयोग किया जाता है।

कथन

छात्रोंके लिये अध्यापक बृहस्पतिके समान है, उसकी बातोंको छात्र वेदवाक्य समझते हैं। बहुतसे ऐसे प्रसंग आते हैं जिनमें अध्यापकको पुस्तकका आश्रय छोड़कर अपने ज्ञान, पांडित्य और अध्ययनका अवलम्ब लेकर कुछ तथ्य बताने पड़ते हैं। हम यह भी कह आए हैं कि ऐसे अवसरोंपर वाणीकी अजस्र धारा नहीं बहा देनी चाहिए वरन् उतना ही कहना चाहिए जो संगत हो और आवश्यक हो, साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह ठीक भी हो। एक बार

एक अध्यापकको संसारके सात आश्चर्य्य (सेविन वण्डर्स औफ़ दि वर्ल्ड) पढ़ाते हुए प्रसङ्गवश आकाशीय उपवन (हैंगिंग गार्डन) पुस्तकमें आ गया। एक छात्रने पूछा—मास्टर साहब, ये आकाशीय उपवन कैसे होते थे। मास्टर साहबने आव देखा न ताव, झटसे बोल उठे—'आकाशीय उपवन स्वर्गके नन्दन वनको कहते हैं। उसे न किसीने देखा न सुना इसीलिये उसे भी एक आश्चर्य्य कहते हैं। हाँ, आगे पढ़ो।' मास्टर साहबने परिस्थिति तो सँभाल ली, किन्तु उन्होंने अपने आत्माके साथ, छात्रोंके साथ और समाजके साथ विश्वासघात किया। उनको कहना चाहिए था कि—

'प्राचीन समयमें वैबिलोनके बादशाह नबूशदनज़रने एक पहाड़ी स्त्रीसे विवाह किया। यह पहाड़ी रानी वहाँकी मरुभूमिकी गर्मी न सह सकी। तब नबूशदनज़रने बड़े मोटे मोटे ईंटोंके पाए बनवाकर उनमें बड़े बड़े पेड़ नीचेसे ऊपरतक लगवा दिए। इसके ऊपर नलके सहारे नदीका पानी पहुँचाया जाता था। धीरे धीरे वह उपवन ऐसा लगने लगा मानो निराधार आकाशमें ही वह लगाया हुआ है। इसकी विचित्र कारीगरीके कारण ही उसकी गिनती संसारके सात आश्चर्य्योंमें थी। आजकल भी बम्बईकी मालाबार पहाड़ीपर इस प्रकारका आकाशीय उपवन (हैंगिंग गार्डन) लगाया गया है।

केवल अपनी नाक बचा रखनेके लिये कभी भी अशुद्ध या भ्रमपूर्ण बातें छात्रोंको नहीं बतानी चाहिएँ। इससे एक आध बार भले ही मुक्ति हो जाय किन्तु कभी आप बुरे फँस

जायँगे और नाक सँभाले न सँभलेगी। कक्षामें जो कुछ कथन-द्वारा ज्ञान देना हो उसे पहलेसे तैयार करके ले जाना चाहिए और यदि कहीं ऐसा प्रसंग आ जाय कि वह विषय ज्ञात न हो तो या तो कौशलपूर्वक उसे टाल जाना चाहिए या स्पष्ट कह देना चाहिए कि इसपर फिर कभी विस्तारसे बताया जायगा। किन्तु ऐसी परिस्थितियोंकी यदि अधिक आवृत्ति होने लगेगी तो छात्र शीघ्र ही ताड़ जायँगे कि इस ढोलके भीतर बड़ी पोल है। यदि आप तैयारी करके कथन करेंगे तो शीघ्र ही आपके पांडित्यकी धाक जम जायगी।

कथनके विषयमें कुछ बातें भली भाँति स्मरण रखनी चाहिएँ—

१. कथन करते समय अपनी वाणीमें उचित उतार-चढ़ाव रक्खा जाय और मुखकी मुद्राएँ, आंगिक अभिनयके शोभन तथा सोद्देश्य रूप अवश्य प्रकट किए जायँ। इससे कथनकी नीरसता कम होती रहती है।

२. कथनको नीरस, उपदेशात्मक तथा अधिक वैज्ञानिक नहीं बनाना चाहिए क्योंकि छात्रोंको रुचिकर सामग्री मिलनी चाहिए। वे उपदेश ग्रहण करनेमें बाधा नहीं डालते पर शर्त्त यही है कि वे ऐसे ढंगसे नमक मिर्च मिलाकर दिए जायँ कि उन्हें उपदेशकी नीरसताका आभास न मिल सके। वे ऐसी कुनैनकी गोली निगलनेको तैयार हैं जिसपर चीनी लिपटी हो। कथा, कहानी, उदाहरण, उपयुक्त कविताएँ तथा चुटकुले आदिका पुट देते रहनेसे उनका ध्यान बँधा रहता है, वे ऊबने नहीं पाते।

३. कथनके द्वारा अपनी विद्वत्ताका सिक्का जमानेके लिये आवश्यक है कि अध्यापकको अपने विषयके अतिरिक्त अन्य ऐसे विषयोंका ज्ञान भी होना चाहिए जिससे छात्रोंकी श्रद्धा एकदम खिंच आवे। ऐसे विषयोंमें चित्रकला, संगीतकला, ज्यौतिष, आयुर्वेद और आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारोंका ज्ञान मुख्य है। यह हमारा अत्यन्त दृढ़ अनुभव है कि जिन अध्यापकोंको उपर्युक्त विषयोंका थोड़ा सा भी ज्ञान होता है उनकी छात्र पूजा करते हैं। संगीत और चित्रकलाके विषयमें बहुत लोगोंको कुछ ऐसा विश्वास हो गया है कि जबतक विधाता स्वयं अपने हाथसे किसीकी गलेकी नसें नहीं बैठाता या उँगलियोंके पोर नहीं जमाता तबतक संगीत और चित्रकलासे मनुष्यको भेंट नहीं हो सकती। किन्तु यह केवल अन्धविश्वास है। ये कलाएँ तो अभ्यास-गम्य हैं, केवल पोथी रटनेसे नहीं आतीं। गुरुके समीप नियमपूर्वक सीखने तथा जी-तोड़ परिश्रम करके अभ्यास करनेसे अत्यन्त जड़ लोगोंको भी ये सुगम हो गई हैं। हाँ, गायनके लिये कंठ भगवान्‌से ही मिलता है और भारतके प्रसिद्ध संगीतज्ञोंमें कठिनतासे पाँच प्रतिशत ही ऐसे हैं जिनके गलेमें सुरीलापन है, मिठास है, दर्द है और रस है।

४. कथनमें आत्मश्लाघा नहीं होनी चाहिए। 'मैं ऐसा विद्वान हूँ, ऐसा लेखक हूँ, ऐसा कवि हूँ कि बृहस्पति भी पानी भरें। प्रेमचन्दजी दस बरस नाक रगड़ें फिर भी मुझे न पायें। तुलसीदासजी मेरे आगे आवें तो उन्हें बातकी बातमें उखाड़ दूँ। आलोचनामें शुक्लजी क्या खाकर मेरी परखतक

पहुँचेंगे।' ये सब बातें प्रायः बहुतसे ढीठ, अहम्मन्य अध्यापक कहते रहते हैं। जो कुछ थोड़ी लोक-लज्जाका अनुभव करते हैं वे प्रायः कह देते हैं—'मेरी समानता लोग प्रेमचन्दजीसे करते हैं और मेरी कविता ठीक प्रसादजीकी कविताके नीचे छपी है और मेरी आलोचना को पढ़कर शुक्लजीने मेरी पीठ ठोंक दी थी।' ये सब बातें बिलकुल भोंडी और अवाञ्छनीय हैं। स्कूलके छात्रोंमें गुण-परीक्षण-शक्ति कम नहीं होती। लड़के उड़ती चिड़िएँ पहचानते हैं। पाँच दिनमें आपसे बातें करके, आपका आचरण देखकर और आपके व्यवहारको समझकर वे आपको ऐसा आँकेंगे कि स्वयं आपको भी उनके विश्लेषण-ज्ञानका लोहा मान लेना पड़ेगा। इसलिये आप यदि अपनी विद्वत्ता या अपने किसी विशेष गुणकी धाक छात्रोंपर बैठाना चाहते हों तो अपने गुणोंका प्रकाश करिए पर अपने मुँहसें न कहिए।

यहाँ एक बात और कह देनी उचित है। अपने गुण-प्रकाशनके लिये आप अवसर देखते रहिए और प्रकाश कर डालिए इसमें हमें तनिक भी आपत्ति नहीं है, किन्तु ऐसा न हो कि आप अपने गुण इस प्रकार दिखावें कि उसका उलटा प्रभाव पड़े। हमारे एक अध्यापक मित्र थे, उनको यह सनक थी कि वे छात्रोंके सम्मुख अपनी संगीतकलाका परिचय दें। उन्होंने हमसे सम्मति माँगी। हम उन्हें धोखा नहीं देना चाहते थे, उनकी खिल्ली नहीं उड़वाना चाहते थे, इसलिये हमने उनसे कहा कि अभी और अभ्यास कर लीजिए, कहीं तालसे चूके तो बनी बनाई साख बिगड़ जायगी। अभी तो दस लोग

यही समझते हैं कि आपने तानसेनकी कब्रकी इमली खाई है पर एक बार अलाप लगाइएगा तो लोगोंमें बड़ी भद्द होगी। पर उन्होंने यह समझा कि हम उनके सौभाग्य और यशसे ईर्ष्या करके उन्हें भाग्योदयके स्वर्ण-संयोगसे वञ्चित कर रहे हैं। जन्माष्टमीके दिन वह अवसर उन्हें बिना माँगे मिल गया। लड़कोंने मास्टर साहबके संगीतप्रेमकी चर्चा सुन ही रक्खी थी। बस पुकार होने लगी। मास्टर साहब तो चाहते ही यह थे। आपने बाजा उठाया और स्वर लगाया। श्रीगणेश ही बिगड़ गया। बाजेके पञ्चमके साथ ये अपना गान्धार मिलाने लगे। एक दो मिनट पीछे ही लड़कोंने तालियाँ पीटनी प्रारम्भ की। आप और भी अधिक झूमकर, और भी अधिक बेसुरे होकर अलापें लेने लगे। परिणाम वही हुआ जो प्रायः ऐसे लोगोंका हुआ करता है। उन्हें नवीन तानसेनकी उपाधि मिल गई। जब मास्टर साहबको इस उपाधिके व्यंग्यार्थका ज्ञान कराया गया तो वे खीझ उठे और आजतक दशा यह है कि तानसेन कहते ही उनकी भौहें तन जाती हैं।

यही बात व्याख्यान देने, खेलने आदिके विषयमें भी लागू है। जबतक आपको अपनी योग्यतामें पूर्ण विश्वास न हो, अपने गुणका पूरा ज्ञान न हो तबतक अपने मनको रास खींचे रक्खें।

तुलना

मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि किसी भी ज्ञानको परिपक्व करानेका एक सरल साधन यह है कि ज्ञातव्य विषयको कई भावों, विचारों या परिस्थितियोंके साहचर्य्यसे दिया जाय।

भाव-साहचर्य्यसे स्मृतिका काम हलका हो जाता है। हम प्रायः स्त्रियोँमेँ देखते हैँ कि वे बहुत सी प्राचीन घटनाओँको इस प्रकार स्मरण रखती हैँ मानो उन्होँने अथक परिश्रम करके ऐतिहासिक घटनाओँकी भाँति उन्हेँ रट-रटकर स्मरण किया हो। उसका कारण यही है कि उन्होँने यह ज्ञान घटना-साहचर्य्यसे पक्का कर लिया है—

गोविन्दकी सगाई अनन्त चतुर्दशीको हुई थी क्योँकि उस दिन नारायणप्रसादके घर लड़का हुआ था और वहाँसे लौटकर मैँ आई तो घर मेँ पूजा हो रही थी। मेरा मुन्नू गोविन्दसे १५ दिन बड़ा है इत्यादि।'

इस प्रकार एक घटनाके संसर्गसे दूसरी घटनाकी स्मृतिको जोड़ देनेसे उसे स्मरण रखनेमेँ बड़ी सुविधा हो जाती है। यह बात केवल साधारण घरेलू घटनाओँके लिये ही नहीँ अपितु साहित्य, इतिहास, भूगोल आदि सभी विषयोँके लिये लागू हो सकती है। इसका पूर्ण विवेचन करनेसे पूर्व यह देख लेना चाहिए कि यह तुलना कितने प्रकारसे की जा सकती है। प्रधानतः समानता दिखाकर तथा विरोध दिखाकर दो प्रकारोँसे तुलना की जाती है।

इस विधानकी महत्ताको कवियोँने भली भाँति समझा था। इसीलिये अपने प्रस्तुतको अधिक प्रभावोत्पादक तथा स्पष्ट रूपसे अंकित करनेके लिये वे अप्रस्तुत या उपमानोँका प्रयोग करने लगे। आँखेँ सुन्दर हैँ, आकर्षक हैँ, मनोहर हैँ—इतना ही कहकर उन्हेँ सन्तोष नहीँ हुआ। वे एक पग आगे बढ़े। प्रकृतिकी निधिका कोना-कोना झाँका और खोजकर ले

आए एक नीला कमल। अब उन्हें आँखोंकी विशेषणात्मक व्याख्याकी आवश्यकता ही नहीं रह गई। वे कहने लगे— आँखें नीलकमलके समान हैं। इस समान वस्तुके प्रस्तुत होनेके कारण आँखोंका इष्ट वर्णन हो गया, समझनेवालोंको अब और कुछ बताना शेष ही न रहा।

एक इतिहासकी बात ले लीजिए। हम कहते हैं कि समुद्र-गुप्तने रघुके समान दिग्विजय किया। रघुकी दिग्विजयकी गाथा पढ़ानेके पश्चात् समुद्रगुप्तके दिग्विजयकी कथा समझना कुछ भी कठिन नहीं है। भूगोलमें भी प्रायः इटलीकी भारतसे और ब्रिटिश द्वीप-समूहोंकी जापानसे समानता दिखाया करते हैं। उसका उद्देश्य ही यह है कि दोनों देशोंका ज्ञान एक साथ पक्का हो जाय। ज्ञातको तुलना दे देनेसे अज्ञात स्पष्ट हो जाता है।

काव्य पढ़ाते समय भी तुलना-प्रणालीका आश्रय लिया जाता है। प्रायः एक परिस्थितिका वर्णन या एक ही विचार अनेक कवियोंने प्रस्तुत किया है। उन पदोंकी एक साथ व्याख्या करनेसे रुचि भी बढ़ती है और ज्ञान भी पक्का हो जाता है।

इसी प्रकार विरोधात्मक भावोंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे भी उसका भाव-साहचर्य्य ज्ञानकी दृढ़तामें सहायक होता है। मान लीजिए पुस्तकमें एक वाक्य आता है—

'वे बड़े उत्कृष्ट विचारोंके आदमी थे।'

उपर्युक्त वाक्यमें 'उत्कृष्ट' शब्द कुछ कठिन है। हम पूछ सकते हैं 'नीच'का उलटा क्या है। अवश्य उत्तर मिलेगा

'ऊँचा'। बस यही 'उत्कृष्ट' का अर्थ है। इस प्रकार विरोधवाची शब्द देकर हमने मूल शब्दका अर्थ निकलवा लिया।

कभी कभी विरोधात्मक विचारोँका एक साथ तुलनात्मक विचार करनेसे भी ज्ञान पक्का होता है। जैसे—

सठ सुधरहिँ सत संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥

और

नीच निचाई नहिँ तजै जौ पावै सतसंग॥

इन दोनोँ भावोँका तुलनात्मक विवेचन करनेसे दोनोँ तथ्योँका भाव समझाया जा सकता है।

इतिहासमेँ तो प्रायः हम लोग पूछते ही हैँ—मुहम्मद तुग़लक और फीरोज़ तुग़लककी तुलना करो। इस विरोधात्मक तुलनासे दोनोँकी विशेषताएँ अधिक स्पष्ट हो जाती हैँ। भूगोलमेँ भी हम लोग पूछते ही हैँ—टंड्राके निवासियोँकी उष्ण कटिबन्धके निवासियोँसे तुलना करो। इस प्रकारकी विरोधात्मक तुलनाओँसे दोनोँ विरोधी वर्ण्य विषयोँ और वस्तुओँका ज्ञान भली भाँति कराया जा सकता है।

इन दो प्रकारकी तुलनाओँके साथ-साथ एक और तुलनात्मक व्याख्या होती है जिसे हम अपेक्षित तुलना कह सकते हैँ। बिहारीका एक दोहा लीजिए—

इही आस अटक्यौ रहतु, अलि गुलाबके मूल।
ह्वैहैँ फेरि बसन्त रितु, इन डारनु वे फूल॥

इस दोहेका अर्थ तबतक स्पष्ट नहीँ हो सकता जबतक कि हम बिहारीका निम्नलिखित दोहा न समझा देँ—

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार।
अब अलि रही गुलावमेँ, अपत कटीली डार ॥

व्याख्याके वाच्य विधानोँ मेँ तुलनाका सर्वाधिक मूल्य है। किन्तु इसके लिये आवश्यक यही है कि अध्यापकका ज्ञान अत्यन्त विस्तृत हो और वह पूर्ण तैयारी करके कक्षामेँ आवे। तुलना जितनी अधिक की जायगी उतना ही पाठ श्रेष्ठ समझा जायगा क्योँ कि तुलनासे पाठ जल्दी समझमेँ आता है। तुलनासे छात्रोँको पाठ्य पुस्तककी विभीषिकासे मुक्ति मिल जाती है, वे सन्तोषकी साँसेँ लेते हैँ और समझते रहते हैँ कि हम पुस्तककी परिधिसे बाहरके ज्ञानतक भी पहुँच रहे हैँ। शिक्षाशास्त्रका कहना भी तो यही है कि पाठ्य-पुस्तक ज्ञान देनेका एक आधार मात्र है, उसे ज्ञान-प्रासादकी नीँव मात्र समझनी चाहिए। उसके ऊपर उठनेवाले प्रासादकी सामग्री तो अध्यापकको अपनी अध्ययन-शीलता, विवेक और अनुभवके भांडारसे लाकर चुननी होगी।

उदाहरण

उदाहरण और दृष्टान्तका भी अध्यापनमेँ विशेष महत्त्व है। विशेषतः गूढ़ तात्त्विक विषयोँको व्याख्याके लिये तो उदाहरण और दृष्टान्तसे ही काम लेना चाहिए। हम कर्त्तव्य-शीलता, सत्यवादिता, सुशीलता, शिष्टाचार आदि विषयोँकी शाब्दिक मीमांसा नहीँ कर सकते क्योँ कि शाब्दिक मीमांसासे जो अर्थ निकलेगा वह चाहे जितना सरल और स्पष्ट हो किन्तु बोधगम्य नहीँ हो सकता। किन्तु यदि उदाहरण या दृष्टान्त देकर हम समझा देँ तो वही बात समझमेँ आ जाय। यदि हम कहेँ—

पितृभक्त व्यक्ति वह है जो सदा पिताकी आज्ञा माने और पिताकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम न करे—

तो इसका अर्थ स्पष्ट समझमेँ नहीँ आ सकता। यदि हम 'राम'का उदाहरण देकर समझा देँ तो हम 'पितृभक्त'का शब्दार्थ ही नहीँ अपितु उसका नैतिक महत्त्व भी समझा सकते हैँ।

अतः विभिन्न परिस्थितियोँके उदाहरण और दृष्टान्त अध्यापकको बहुलताके साथ स्मरण रखने चाहिएँ जिसमेँ वह उनका उचित प्रयोग कर सके। उदाहरणोँके प्रयोगमेँ थोड़ासा सावधान रहना चाहिए। जिन लोगोँको बहुतसे दृष्टान्त और उदाहरण स्मरण होते हैँ वे मूल पाठकी हानि करके कक्षाको गल्प-शाला, चंडूखाना बना देते हैँ। वे कक्षाका मनोरंजन तो अवश्य करते हैँ किन्तु कक्षाका मनोरंजन ऐसा होना चाहिए जो ज्ञानवर्द्धक भी हो और निर्दिष्ट पाठ्यक्रममेँ निर्बाध सहायता प्रदान करे।

आधार

जो बातेँ उदाहरणके लिये लागू हैँ ठीक वे ही बातेँ आधारके लिये भी लागू हैँ। आधार शब्दका पारिभाषिक प्रयोग कुछ नया है इसलिये उसकी व्याख्या भी कर देनी चाहिए। प्रायः हम देखते हैँ कि जो विषय हम पढ़ाते हैँ उनमेँ कुछ ऐसे प्रसंगोँकी चरचा आ जाती है जिनकी कथा जबतक न प्रकट हो तबतक मुख्य विषय समझमेँ नहीँ आ सकता। एक दोहा लीजिए—

छिमा बड़नुकौँ चाहिए, छोटनकौँ उतपात।
कहा बिस्नुकौ घटि गयो, जौ भृगु मारी लात॥

इस दोहेका अर्थ समझानेके लिये विष्णु और भृगुके प्रसंगको स्पष्ट कर देना चाहिए।

आधारके स्पष्टीकरणमें केवल यही स्मरण रखना चाहिए कि वह सूक्ष्म हो, सरल भाषामें हो और स्पष्टताके लिये जितना आवश्यक हो उतना ही कहा जाय।

अर्थ

अर्थ तो साहित्य पढ़ाते हुए ही बतलाए जाते हैं। वास्तवमें अर्थ बतलाना शिक्षणका सबसे हीन विधान समझा जाता है। किन्तु ऐसे अवसर प्रायः उपस्थित हो ही जाते हैं जब शिक्षण-विधियोंका प्रयोग कर लेनेपर भी अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। ऐसे अवसरोंपर अध्यापकको स्वयं अर्थ बताना पड़ता है।

अर्थ बतानेके सम्बन्धमें व्यापक नियम यही है कि मघवाका अर्थ बिड़ौजा न बताया जाय अर्थात् मूलसे अर्थ अधिक कठिन न हो जाय। अर्थ अत्यन्त सरल भाषामें कहना चाहिए जिसे सब छात्र समझ सकें। अर्थ बतानेसे पूर्व अध्यापकको चाहिए कि कठिन शब्दोंका अर्थ निकलवाकर वाक्योंका विश्लेषण करके यथासम्भव उसका अर्थ छात्रोंसे निकलवा ले। अर्थ निकलवानेपर भी प्रायः यह होता है कि छात्र अर्थ तो समझ जाते हैं किन्तु उपयुक्त भाषामें उसे व्यक्त नहीं कर पाते। अध्यापकको यही चाहिए कि ऐसी परिस्थितिमें वह छात्रोंको यह बतलाता रहे कि अर्थ किस प्रकार, किस भाषामें, कितना देना चाहिए। हम ऊपर भी कह चुके हैं और फिर भी उसकी पुनरावृत्ति कर देना उचित समझते हैं कि

अर्थ बतानेका भी बड़ा प्रलोभन होता है। एक तो समयकी बचतके लिये, दूसरे अपने पांडित्य-प्रदर्शनके लिये और तीसरे अधैर्य्यके कारण अर्थ बतानेकी प्रवृत्ति प्रत्येक अध्यापकमेँ होती है। इस प्रवृत्तिपर विजय प्राप्त करनी चाहिए और जहाँतक सम्भव हो अर्थ छात्रोँसे ही निकलवाया जाय।

व्युत्पत्ति

व्युत्पत्तिका प्रयोग प्रायः समस्त पदोँ (समासवाले शब्दोँ) के शिक्षणमेँ होता है। व्युत्पत्ति भी एक बड़ी बला है। जो लोग व्याकरणके पंडित होते हैँ वे तो ऐसे अवसरोँको स्वर्ण-सुयोग समझते हैँ और अपने व्याकरण-ज्ञानका संपूर्ण कोश खोलकर रख देते हैँ। व्युत्पत्ति बताना स्वतः कोई बुरा काम नहीँ है। इससे ज्ञान बढ़ता सही है किन्तु इसका यह अर्थ नहीँ है कि प्रत्येक शब्दके माँ-बाप, भाई-बन्धुओँकी जन्मपत्री खोल-खोलकर रख दी जाय। व्युत्पत्तिका प्रयोग वहीँ करना चाहिए जहाँ शब्दका अर्थ समझनेमेँ व्युत्पत्ति सहायक हो। एक वाक्य लीजिए—

'इस संसारमेँ प्रत्युत्पन्नमतिवाले लोग ही कुछ कर सकते हैँ।'

उपर्युक्त वाक्यमेँ प्रत्युत्पन्नमति शब्दकी सन्धि तोड़कर, समास-विग्रह करके, हितोपदेशकी तीन मछलियोँकी कथा कहकर इसकी व्युत्पत्ति की जा सकती है। अथवा कोई कहता है कि मनुष्यमेँ 'दाक्ष्य' हो तो वह सब कुछ कर सकता है। 'दाक्ष्य' शब्द कैसे बना, इसमेँ मूल शब्द क्या है, भाववाचक पुंल्लिङ्ग किस प्रकार बनता है यह सब बता देना चाहिए।

शब्दोंकी व्युत्पत्तिका ज्ञान अध्यापकको अवश्य होना चाहिए चाहे वह उनका प्रयोग कर सके या नहीं। क्योंकि जैसा हम बार-बार कहते आए हैं अध्यापकको सब प्रकारसे तैयार रहना चाहिए चाहे वह परिस्थिति आवे या न आवे।

व्याख्याके वाच्य विधानमें एक मुख्य विधान और रह गया है, वह है कथा या कहानी। यह विधान बड़े महत्त्वका है और इसकी चलती-सी विवेचना कर देना उचित न होगा इसलिये अगले अध्यायमें हम विस्तारसे इसपर विचार करेंगे कि कक्षामें किस प्रकारकी कहानियाँ कहनी चाहिएँ, कैसे कहनी चाहिएँ, कब कहनी चाहिएँ और कहानी कहनेमें किन बातों-पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

१२

कहानी कहनेकी कला

मानव-जीवनका इतिहास कहानियोंका एक विशाल संग्रह है। मनुष्यके अनुभवमें सर्वसाधारण अनुभवों के अतिरिक्त कुछ ऐसे अनुभव भी होते रहे हैं जो अलौकिक और असाधारण रहते हैं। इन अनुभवोंको, कथाओंको जब जब मानव-समाजने सुना तब तब आश्चर्यसे दाँतोंतले उँगली दबाई और कथाकी अलौकिकताने उन्हें बार बार सुननेको उत्सुक किया। यही उत्कण्ठा कुतूहल बनकर मानव-हृदयमें निरन्तर बसती चली आई है। क्या छोटे क्या बड़े, क्या बच्चे क्या बूढ़े, सभीमें विचित्र कथा सुननेकी रुचि निरन्तर होती चली आई है। सभ्यताके जन्मके समयसे ही मनुष्यने बालककी इस रुचिको भाँप लिया था और तभीसे हमारी दादियों और नानियोंने न जाने कितनी सत्य और असत्य, विश्वसनीय और अविश्वसनीय, संबद्ध और असंबद्ध कहानियाँ कह कहकर दुर्ललित, चपल और नटखट बालकोंको चुप कराया है, सुलाया है और उन्हें कहानी सुनानेका प्रलोभन देकर उनसे इच्छित कार्य कराया है।

इन कहानी सुननेवालोंमें कितने ही बड़े बड़े राजे महाराजे भी हुए हैं। जब राजा परीक्षित शमीक ऋषिके पुत्र शृङ्गी ऋषिके शापके कारण अपने जीवनकी अवधि समाप्त कर रहे

थे, उस समय उन्होंने भारतीय इतिहासकी प्रसिद्ध कथाएँ भगवान शुकदेवजीके मुँहसे सुनी थीं। उनकी कथा इतनी रोचक और ज्ञानपूर्ण (इन्टेरेस्टिंग ऐंड इन्स्ट्रक्टिव) होती थीं कि असंख्य ऋषि, मुनि और विद्वान् भी दूर दूरसे आकर उनका प्रवचन सुनते थे।

ऐसे और भी अनेक राजाओंके वर्णन मिलते हैं जिनके मनबहलावका साधन कहानी सुनना था। उन लोगोंने अपने दरबारोंमें ऐसे कथक्कड़ोंको आश्रय दे रक्खा था जिन्हें कहानियाँ स्मरण ही नहीं थीं अपितु वे यह भी जानते थे कि किस अवसरपर कौन सी कहानी कहनेसे स्वामी प्रसन्न होंगे और कहानी किस प्रकारसे कहनी चाहिए। ऐसे लोगोंने यश और प्रतिष्ठा भी कमाई है। बीरबलका नाम भारतमें कौन भूल सकता है।

आजकल भी लोगोंमें जो चलचित्र (सिनेमा) का अधिक प्रचार हुआ है और हो रहा है उसका कारण भी कहानी-प्रेम ही है। अन्तर केवल यही है कि ये चलचित्रकी कहानियाँ हम कानोंसे नहीं सुनते, आँखोंसे देखते हैं। कहानीको मस्तिष्क और हृदयमें बैठानेवाले यन्त्रोंमें केवल अन्तर हुआ है। कानोंका काम आँखोंको मिल गया है अन्यथा सब बातें ज्योंकी त्यों हैं। सुननेसे सुननेवाले को एक काल्पनिक चित्र बनाना पड़ता था, देखनेसे कल्पनाका द्वार बन्द हो गया, काम सीधा और हलका हो गया। पर कहानी फिर भी बनी रही।

व्यावसायिक कहानी कहनेवालोंका अभाव होनेके कारण और मुद्रणयन्त्रकी कृपासे लोगोंने कहानी सुननेके बदले पढ़ना

प्रारम्भ कर दी है। यही कारण है कि विश्व-साहित्योंका अधिकांश उपन्यासों और कहानियोंसे पटा पड़ा है। अबकी तो बात ही जाने दीजिए, आजसे कई सौ वर्ष पहले गुणाढ्यने पैशाची भाषामें बड्डकहा (बृहत्कथा) लिखी थी और उसका इतना आदर हुआ कि उस समयकी सर्वमान्य संस्कृत भाषामें कथासरित्सागरके नामसे उसका अनुवाद हुआ, उसकी कथाओंके आधारपर नाटक लिखे गए और भारतीय साहित्यमें उन कथाओंके उद्धरण स्थान-स्थानपर दिए गए।

मनबहलावके साधनके अतिरिक्त कहानियोंका शैक्षणिक महत्त्व भी कम नहीं है। योरोपमें जर्मन शिक्षा-शास्त्री फ्रोबेलने अपनी बालोद्यान (किंडरगार्टन) प्रणालीमें कहानियोंको प्रमुख स्थान दिया है। किन्तु फ्रोबेलके जन्मसे कई सौ बरस पहले विष्णुशर्माने पञ्चतन्त्र और हितोपदेशकी कहानियाँ सुनाकर यह घोषित कर दिया था—

कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते

—कि कथाके बहाने हम बच्चोंको नीति सिखला रहे हैं। हितोपदेशके प्रारम्भमें ही उसके रचयिताने कहा है—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च॥

अर्थात् हितोपदेशकी कथाओंको सुननेसे संस्कृतकी उक्तियोंको जानने और उनका प्रयोग करनेका कौशल आजायगा, किस स्थानपर किस प्रकार वाणीकी विचित्रता लानी चाहिए इसका ज्ञान हो जायगा तथा नीति-विद्याका अर्थात् व्यवहारका ज्ञान भी हो जायगा।

इस प्रकार सर्वप्रथम भारतवर्षमें ही कहानियोंके शैक्षणिक महत्त्वकी प्रतिष्ठा और उसका प्रचार हुआ। जो कथाएँ और कहानियाँ यहाँ छोटे बच्चोंके लिये कही गई हैं वे प्रायः पशु-पक्षियोंके सम्बन्धमें कही गई हैं। इसका एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक कारण है। जब हम मनुष्योंकी कहानियाँ पढ़ते या या सुनते हैं तो हम तत्काल उनमेंसे एक श्रेष्ठ पात्रको चुन लेते हैं और अपना उससे तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करके कथाके अन्ततक यही समझते चलते हैं मानो आप वही हों। इस तादात्म्यसे कहानीका आनन्द तो भली प्रकार प्राप्त हो जाता है किन्तु उसके पीछे जो नीतिकी बात या उपदेश होता है वह लुप्त हो जाता है, उसतक बुद्धि पहुँच हो नहीं पाती। किन्तु जब कहानियोंके पात्र पशु-पक्षी होते हैं तो मनुष्य उनसे तादात्म्य सम्बन्ध नहीं स्थापित करता, तटस्थ होकर उनकी क्रियाओंको देखता है, विचार करता है और परिणाम निकालता है। इन परिणामोंके द्वारा वह अपने चरित्र, विचार या व्यवहारका परिष्कार और सुधार करता है। इसीलिये प्रारम्भिक अवस्थामें शिक्षा-शास्त्रकी दृष्टिसे पशु-पक्षियोंकी कथाओंको विशेष महत्त्व दिया जाता है।

आजकल साहित्यमें जो कहानियाँ प्रचलित हैं उनमें और प्राचीन कहानियोंमें बड़ा अन्तर है। आजकल वस्तुवाद, यथार्थवाद और कहानीकलाके नामपर बेसिर-पैरकी अनेक अनर्गल कहानियाँ कागजको और मानव-मनको काला रँगती चली जा रही हैं और दुःख तो यह है कि यह सब हो रहा है कलाके नामपर, मनोवैज्ञानिक चित्रणके नामपर। आडम्बर-

पूर्ण पारिभाषिक शब्दोंकी ओट लेकर अनाड़ी आलोचक भी इन कहानियोंके लेखकोंको बृहस्पति सिद्ध करनेकी सतत चेष्टामें निरत दिखाई दे रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आजकल प्रत्येक कहानी-लेखक कहानी नहीं कहता, वह यह देखता है कि कौशल (टेकनीक) की दृष्टिसे वह ठहर सकेगी या नहीं। वह यह विचार करनेका कष्ट नहीं उठाना चाहता कि अमुक कहानीका क्या प्रभाव होगा, मनुष्यके आचरण-सुधारमें वह कितना योग देगी, युगकी कौन सी गुत्थियाँ सुलझेँगी, ज्ञानका कौनसा रुद्ध द्वार खुल जायगा, मानव-हृदयकी किस शाश्वत जिज्ञासाका समाधान होगा। इसलिये आजकलकी कहानियाँ केवल क्षणिक हैं, अस्थायी हैं, अचिर हैं। पुरानी कथाओंमें चाहे वे पूर्वकी हों या पश्चिमकी, ठंड्राकी हों या उष्ण कटिबन्धके देशोंकी किन्तु उनमें एक भाव निरन्तर व्याप्त मिलता है वह यह है कि प्रत्येक कथाका परिणाम सुखकर होता है, पापीको दंड और सज्जन तथा वीरको उचित पुरस्कार मिलता है। 'एक था राजा' से प्रारम्भ होकर जो कथाएँ चलती हैं उनके अन्तमें यही होता है 'उसका राजकुमारीसे ब्याह हो गया। जैसा उसका हुआ भगवान करें सबका ऐसा ही हो'। सर्वे भद्राणि पश्यन्तुकी एक विश्व-व्याप्य धारणा बालकोंके मनमें प्रारम्भसे ही बैठा दी जाती थी और साथ ही साथ यह आतंक भी प्रबल रूपसे जमा दिया जाता था कि हिंसा, कपट, देशद्रोहिता, स्वामिद्रोहिता, झूठ, अनाचार, अत्याचार, लोभ, अभिमान, ईर्ष्या आदि जितने भी दुर्गुण हैं इनका आश्रय लेनेसे अवश्य पतन होता है और

क्लेश मिलता है। जीवनमें जब जब मनुष्यके भीतर बैठा हुआ पिशाच प्रबल होता है तब तब बचपनकी कहानियोंके द्वारा बैठाई हुई पापको विभीषिका उसे दबाती रहती है और इस प्रकारके निरन्तर दमनसे पिशाच समाप्त हो जाता है और देवता जाग पड़ता है।

हम ऊपर ही कह आए हैं कि बालकोंका मन कहानियोंमें बहुत लगता है। यही सत्य हमारे लिये बहुत कामका है। हम यह भी जानते हैं कि जिसमें मन लगता है उसीमें ध्यान जमता है, इस एकाग्रतामें जो ज्ञान आता है वह बुद्धि तत्काल ग्रहण कर लेती है और वह बालकके ज्ञानका निश्चित अंग बन जाता है। इसलिये सफल अध्यापकको चाहिए कि वह विभिन्न अवसरोंके योग्य कहानियाँ स्मरण रक्खे और अवसर पाते ही उनका प्रयोग कर दे। इन कहानियोंके द्वारा वह जितनी पक्की शिक्षा दे सकेगा उतनी और किसी साधनके द्वारा नहीं दे सकता किन्तु कहानियाँ स्मरण करने मात्रसे ही उसका काम नहीं चल सकता। उसे कहानी कहनेकी कला भी जान लेनी चाहिए। किस कहानीमें कौन सी घटना प्रमुख है, किसपर अधिक बल देना चाहिए, किस समाजमें किस प्रकारकी भाषा काममें लाई जाय, कौनसी बात हँसी उत्पन्न कर सकती है, किस बातको किस मुद्रासे कहा जाय, ये सभी बातें कहानी कहनेकी कलाके अन्तर्गत ज्ञातव्य हैं।

यहीं यह बात भी स्मरणीय है कि बच्चोंको कहानी सुननेमें जो आनन्द मिलता है वह पढ़नेमें नहीं। उसका कारण

यह है कि लिखी हुई कहानी परिमित शब्दों और वाक्योंमें बँधी रहती है और यह भी संभव है कि अनेक स्थानोंपर शब्दों और वाक्योंके अर्थ बालक न समझ सकें। किन्तु कहनेवाला अपने श्रोताओंकी योग्यताके अनुसार अपनी भाषाको सँभाल लेता है और जहाँ कहीं उसे अपने श्रोताओंके मुखमंडलपर न समझनेकी झलक मिलती है वहाँ वह अपनी कही हुई बातको समझा भी देता है। पर पुस्तककी भाषा तो एक-सी रहती है। यदि आप समझते हों तो ठीक है नहीं तो उसे उठाकर रख दीजिए।

कहानी कहनेवालेको एक और भी बड़ा भारी लाभ है। वह बहुत-सी बातें, भावनाएँ, क्रियाएँ केवल अपनी आंगिक चेष्टाओं, मुख-मुद्राओं, भाव-भंगियोंसे ही बता डालता है। वाणीमें भावके अनुसार उतार-चढ़ाव करके वाचिक अभिनयसे वह श्रोताओंके आगे मानसिक परिस्थितियोंका मूर्त्त स्वरूप ला खड़ा कर सकता है और इस प्रकार अपने श्रोताओंका ध्यान आकर्षित करनेके साथ साथ उनके हृदय-पटलपर कहानीके मुख्यतम अंशोंके अमिट प्रभावकी छाप सदाके लिये छोड़ सकता है। किसी वस्तुकी लंबाई चौड़ाई बतानेके लिये पोथीवाला लिखेगा 'उस राक्षसका सिर बड़े ढोलके जैसा था।' किन्तु कहनेवाला अपने दोनों हाथोंको फैलाकर केवल इतना ही कहकर अपना भाव समझा देगा—उस राक्षसका सिर इतना बड़ा था। इस वक्तव्यसे भी यही निष्कर्ष निकला कि केवल कहानीका उतना महत्त्व नहीं है जितना कहानी कहनेके ढंग जाननेका है।

विद्यालयोंमें कहानी सुनानेके उद्देश्य

कहानीका प्रमुख उद्देश्य आनन्द देना है। हम ऊपर कहानी कहनेके शैक्षणिक महत्त्वपर बहुत कुछ कह आए हैं किन्तु वे सब उद्देश्य गौण हैं। जिस प्रकार एक भक्त गंगा-स्नान करनेके लिये निकलता है तो उसका मुख्य उद्देश्य गंगा-स्नान करना होता है किन्तु इसीके साथ-साथ उसे देव-दर्शन भी मिल जाता है, साधु-महात्माओंका सत्संग हो जाता है, कुछ कथा-वार्त्ताएँ सुननेको मिल जाती हैं। यद्यपि देव-दर्शन, साधु-सत्संग, कथाश्रवण आदिका कम महत्त्व नहीं है फिर भी वे मुख्य उद्देश्य नहीं हैं, गौण ही हैं। इसी प्रकार पाठशालाओंमें कहानी सुनानेका प्रधान उद्देश्य तो आनन्द देना ही है, भले ही उसमेंसे नीति, व्यवहार, शिष्टाचार आदिके उपदेश निकल आवें और छात्रोंको प्रभावित करें। हम पहले ही अध्यायमें कह आए हैं कि आनन्द जिससे मिलता हो वही कला है इस-लिये यदि आप कहानी सुनकर आनन्द उत्पन्न कर सकें तो वह कला है और उसके साथ वही व्यवहार होना चाहिए जो कलाके साथ होता है या हो सकता है। जिस प्रकार कलात्मक वस्तु आनन्द प्रदान करनेके साथ-साथ हमारे हृदयके तारोंको एक बार हिला देती है, हमारे आत्माको कुछ कालके लिये परमानन्दमें मग्न कर देती है, मन्त्रमुग्ध कर देती है उसी प्रकार कहानी कहनेका यही उद्देश्य होना चाहिए कि वह श्रोताओंके हृदयको, उनके आत्माको ऐसा रसमग्न कर दे कि वे आत्मविस्तृत होकर उस रसका उपभोग करें। जिस प्रकार वीणाकी मींड़को सुनकर प्रत्येक सहृदय व्यक्तिका हृदय

आनन्दसे काँप जाता है, मन एक विशेष उल्लाससे आकुल हो जाता है उसी प्रकार कहानी सुनानेवालेके 'एक था राजा' कहनेके साथ ही साथ कुछ ऐसा वातावरण बन जाय कि भगवान् श्रीकृष्णकी मुरलीके मधुर निनादके समान उसकी गतिके साथ सारी सृष्टिका सहयोग हो जाय, श्रोताओंकी संपूर्ण वृत्तियाँ एकाग्र होकर कहानीके प्रत्येक वर्णको निगल जानेको उत्सुक हों, सुनानेवालेकी आंगिक चेष्टाएँ, भाव-भंगियाँ श्रोताओंकी दृष्टिसे बच न निकलें, उसकी वाणीका कोमलसे कोमल उतार-चढ़ाव उनकी श्रवणेन्द्रियोंसे छूटकर न जा सके। तभी यह सिद्ध हो सकेगा कि कहानी कलाकी सामग्री है और यह मनबहलावकी कला है, ऐसी कला जो रस पैदा करे, गुदगुदी पैदा करे और आत्मामें बल, साहस, उत्साह और पराक्रम भी भर दे। कहानीसे भले ही ज्ञानकी परिधिका विकास न हो, एक भी तथ्य न बतलाया जाय किन्तु यदि मनुष्यके हृदयको, उसके भावोंको कहानीने मथ दिया तो समझ लो कहानी सार्थक हो गई, उसका उद्देश्य पूरा हो गया।

कहानी किस प्रकार कहनी चाहिए

इतना पढ़ लेनेपर यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि कहानी किस प्रकार कहनी चाहिए। कहानी कहनेकी कलाका सर्व-प्रथम तत्त्व यह है कि कहानीको व्यक्तिगत बनाना चाहिए मानो उस कथाकी घटनाओंको आपने अपनी आँखोंसे देखा है। आप इस प्रकार आचरण कीजिए मानो प्रत्येक घटना आपपर विभिन्न प्रभाव छोड़ती गई हो। जिस प्रकार संजयने धृतराष्ट्रको महाभारतके युद्धकी सब घटनाएँ प्रत्यक्षदर्शीकी

भाँति सुनाई थीं उसी भाँति आप भी सुनाइए, मानो आप उसकी प्रत्येक घटनासे प्रभावित हो रहे हों। यद्यपि कहानीमें आप भूतकालकी क्रियाका प्रयोग करते हैं किन्तु फिर भी आप इस प्रकार कहिए मानों आप दिव्य दृष्टिसे प्रत्येक घटनाको सत्य ही देख रहे हों और उससे प्रभावित होते हुए उसका वर्णन करते चले जा रहे हों। यदि आपको इस दशाका ठीक अनुभव करना हो तो कभी कलकत्ते या बम्बईके फुटबौल या क्रिकेटके मैचके विवरण-दाताका विवरण बेतार यन्त्र (रेडियो) पर सुनिए। वह ध्वनिविक्षेपक (माइक्रोफ़ोन) में मुँह लगाए अपनी दृष्टि मैचकी प्रत्येक गतिपर रखता हुआ बोलता चलता है और उसके बोलनेसे यह स्पष्ट पता चलता जाता है कि खेलका उसके हृदयपर क्या प्रभाव पड़ता जा रहा है, उपस्थित जनतापर क्या प्रभाव पड़ता है और दूर देशोंमें बैठे हुए श्रोतापर वही प्रभाव डालनेके लिये वह कितना उत्सुक और सचेष्ट है। वह इस प्रकार बोलता है कि आपको सुनने मात्रसे यह अनुभव हो कि मैच आपकी आँखोंके आगे हो रहा है।—"बनर्जीने शमीमको अड़ंगी दी, रघुनाथ गेंद लेकर बढ़ा, निसारसे भी निकाल ले गया, वह किक दी, वुन्दू ने सिरसे मारकर गेंद उछाल दी, वह बनर्जी दौड़ा, अब गेंद उसीकी है, वह दौड़ रहा है, निसार पीछा कर रहा है, बनर्जी किक करनेकी घातमें है, वह निसार पहुँच गया, पर बनर्जीने गेंदको पीछे करके बचा लिया, वह किक लगाई, गोऽऽल, गोऽऽल, तीसरा गोल हो गया, वाह बनर्जी वाह, बड़ा सच्चा गोल लगाया।" इत्यादि।

बच्चोंकी या यों कहिए कि मानव मात्रकी कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह व्यक्तिगत अनुभव सुननेकी बड़ी इच्छा करता है। जब कोई परदेससे लौटता है तो बड़े-बूढ़े बालक-बच्चे सब उसे घेरकर बैठ जाते हैं और यह जानना चाहते हैं कि परदेसमें क्या देखा, कैसे रहे, वहाँके लोग कैसे हैं, क्या करते हैं, यात्रामें क्या कष्ट उठाए, इत्यादि। अतः यदि आप अपने अनुभवकी कहानियाँ सुना सकें तब तो सोनेमें सुगन्ध समझिए। साधारणतः अध्यापकगण छात्रोंसे अवस्था और अनुभवमें बड़े होते हैं और प्रत्येक व्यक्तिको स्मृतिमें अपने जीवनको ऐसी बहुत-सी अनुभूतियाँ सञ्चित रहती हैं जिन्हें वह अपने छात्रोंको कहानीके रूपमें सुना सकता है। बहुत-से अच्छे अध्यापक आप-बीती सुनाकर बालकोंका उचित पथ-प्रदर्शन भी करते हैं किन्तु कभी-कभी बहुत-से अध्यापक इस तरंगमें बहुत-सी झूठी बातें भी कह डालते हैं। यह अनुचित है। यदि कोई ऐसी घटना हो जो आपके अनुभवमें न आई हो, किसी दूसरेके अनुभवमें आई हो तो आप यह कहकर उस घटनाको सुना सकते हैं कि अमुक व्यक्तिके साथ ऐसी घटना हुई।

कहानी कहनेके पूर्व यह भी विचार कर लेना चाहिए कि कौन-सी कहानी कही जाय। यह विषय इतना सरल है कि इसकी व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है। कहानी ऐसी हो जो सबकी समझमें आ सके, उसके पात्रोंके नाम सरल, सुबोध और शीघ्र स्मरण होनेके योग्य हों, अवसरके अनुकूल हों, उसकी घटनाएँ पेचीदी न हों, घटनाओंका घात-प्रतिघात

हो और परिणाम सुखकर हो, उसके परिणाम-स्वरूप भले आदमीको पुरस्कार और दुष्टको दण्ड मिले, कहानीमें कोई बात ऐसी न हो जो अश्लील, फूहड़ और काम-वासनाकी ओर कल्पनाको दौड़ानेमें सहायक हो । यदि कहानी लंबी, अधिक उलझी हुई और पेचीदी हो तो उसे बालकोंकी योग्यताके अनुसार छोटी तथा सरल बनकर कहानी चाहिए।

इस प्रकार कहानीका चुनाव करके कहानी प्रारंभ करनी चाहिए। हम ऊपर कह आए हैं कि कहानीको स्वयं सत्य समझकर और स्वयं उसका आनन्द लेते हुए कहानी कहो। किन्तु कहनेसे पूर्व अपनी कहानीको भली प्रकार जान लो। जाननेका तात्पर्य यह है कि कहानीके पात्रोंके नामोंमें या घटनाक्रममें गड़बड़ी न हो, कहाँ क्या बात किस भाँति कही जायगी इसकी पूरी तैयारी पहलेसे रहनी चाहिए। "एक राजा था। उसका नाम था......(सिर खुजाते हुए) देखो मुझे अभी याद था......अच्छा जाने दो कुछ भी हो।" ये बातें ठीक नहीं हैं। हम पहले ही कह आए हैं कि अध्यापक तो अभिनेताके समान है। उसको अपना पाठ पहलेसे स्मरण रखना ही चाहिए।

कहानी कहनेवालेको यह भी ध्यान रखना चाहिए कि श्रोतागण (छात्र) उसकी दृष्टिकी परिधिसे बाहर न हों। वह ऐसे स्थानपर बैठकर या खड़े होकर कहानी सुनावे कि सब छात्र उसके मुखकी प्रत्येक मुद्राको देख और समझ सकें। कहानी तभी प्रारंभ करनी चाहिए जब सब बच्चे चुप हो जायँ। कहानीके बीचमें यदि कुछ फुसफुसाहट या

गुनगुनाहट हो तो यह न कहिए—'कौन बात कर रहा है उधर'।—वरन् कहानीको ही ऐसा सरस बना दीजिए कि असावधानोंका ध्यान आकृष्ट हो जाय। कहनेका अर्थ यह है कि कहानीके बीचमें व्याघात न डालिए, बच्चे स्वयं चुप हो जायँगे।

पर छात्रोंकी एकाग्रताके साथ आपका भी मन संयत और चित्त स्वस्थ होना चाहिए। घरपर बच्चा रो रहा होगा, मेरे कोटकी जेबमें रुपये पड़े हैं कोई निकाल न ले, ये चिन्ताएँ जिसके मनमें चक्कर लगा रही हों वह कहानी नहीं कह सकता। अथवा आपका सिर दर्द कर रहा हो, गलेमें सूजन हो, मुँहमें छाले पड़े हों, आप एकादशी व्रत हों तब भी आप कहानी नहीं कह सकते। ऐसी परिस्थितियों और अवस्थितियोंमें आपको कहानी नहीं कहनी चाहिए। आप अवश्य कहानीका गला घोंट डालेंगे।

इस प्रकार कथाको भली प्रकार जानकर श्रोताओंको सम्मुख बैठाकर, स्वस्थ चित्तसे, अत्यन्त अधिकारपूर्ण मुद्रासे, सरल भाषामें, नाटकीय भावभंगियोंके साथ, स्वाभाविकता, उत्साह और उल्लासके साथ कहानी प्रारंभ कर दीजिए।

कहानियाँ कब कही जायँ

जब आपको अवसर मिले तभी कहानी कह डालिए। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आप बिना अवसरके अपनेसे ही कहानी कहना प्रारंभ कर दें। अवसर आनेकी बाट जोहिए और अवसर मिलनेपर उसको हाथसे न जाने दीजिए। यह आवश्यक नहीं है कि केवल भाषा या साहित्यके शिक्षणमें

ही कहानियोंका प्रयोग हो सकता है। गणित, इतिहास, भूगोल, विज्ञान सभीकी अद्‌भुत कथाएँ हैं और सभी विषयोंके शिक्षणमें कहानियोंका प्रयोग किया जा सकता है। योरोपीय शिक्षण-साहित्यमें ऐसी अनेक पोथियाँ लिखी गई हैं जिनमें कथा-कहानियोंके द्वारा सभी ज्ञातव्य विषयोंकी शिक्षा देनेके विधान हैं। हमारे यहाँके साहित्यमें भी रामायण-महाभारत आदिमें राम-रावण तथा कौरव-पाण्डवोंके युद्धकी कथाओंके साथ-साथ राजनीति, दर्शन, ज्यौतिष आदि अनेक विषयोंका भी समावेश है। किन्तु इस प्रकार कहानियोंके द्वारा अन्य विषयोंकी शिक्षा देनेकी तो प्रणाली ही दूसरी है और उससे हमारा अर्थ भी नहीं निकलता । विचारणीय विषय तो यही है कि पाठ्य विषयोंके बीच-बीचमें किस प्रकार कहानियोंका प्रयोग करके पाठको सरस, रुचिकर और आकर्षक बनाया जा सकता है। यों पाठ्यक्रममें जहाँ कहानियाँ ही कहनी हों वहाँकी बात दूसरी है।

कहानीका प्रयोग करते समय इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि कहानी कहनेमें आवश्यकतासे अधिक समय तो नहीं ले लिया गया अथवा कहानीके कारण मुख्य पाठकी धारामें तो व्याघात नहीं पड़ा। यदि इस प्रकारके व्याघातकी आशङ्का हो तो कहानी कहनेका लोभ रोक लेना चाहिए। क्योंकि यह अधिक सम्भव है कि छात्रगण कहानीको तो भली प्रकार समझ जायँ किन्तु उसके आनन्दातिरेकके कारण वे मूल पाठ बिलकुल न समझ सकें। अध्यापक साधारण विवेकसे ही कहानी कहनेके अवसरकी उपयुक्तता-

अनुपयुक्तताका तथा उचित परिमाणका स्वयं विचार कर सकता है।

कहानियोंके प्रकार

कहानियाँ कई प्रकारकी होती हैं। इनमें प्रथम स्थान परियोंकी कहानियोंका है जिनमें दिव्य लोककी लोकरक्षिणी शक्तियाँ सुन्दर परियोंके रूपमें आकर विपन्न प्राणियोंकी सहायता करती हैं, भले आदमियोंका हित करती हैं और दुष्टोंको उचित ताड़ना देती हैं। इन्हीं कहानियोंमें भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, किन्नर गन्धर्व, विद्याधरोंकी कहानियाँ भी आती हैं, बच्चोंको इनमें बड़ा आनन्द आता है।

इसके पश्चात् हँसी-विनोदकी कहानियाँ आती हैं जिनमें मूर्खोंकी मूर्खताका वर्णन होता है और प्रत्येक मूर्खताकी बात सुनकर हँसी भी आती है और साथ-साथ यह भी ज्ञात होता चलता है कि किस अवस्थामें किस प्रकारका व्यवहार करनेसे मनुष्य हास्यका पात्र हो जाता है।

इसके पीछे नीतिकी कहानियोंकी बारी आती है जो प्रायः सभी साहित्योंमें पशु-पक्षियोंके जीवनसे ली गई हैं। हितोपदेश, पञ्चतन्त्र, ईसपकी कहानियाँ आदि इसी कोटिकी हैं।

इसके पीछे केवल मनोविनोदकी वे कहानियाँ आती हैं जिनका उद्देश्य कल्पनाको पंख लगाना है। इनमें आरब्य उपन्यास (अरेबियन नाइट्स) या कथासरित्सागरकी कहानियाँ हैं।

अन्तमें ऐतिहासिक कथाओंकी बारी आती है जिनमें ऐतिहासिक, लोकरक्षक, त्यागी तथा साहसी वीरोंकी गाथाएँ

आती हैं। इन कथाओंके सुननेसे वीरता जागती है, आत्मविश्वास बढ़ता है, साहस आता है, कायरता दूर होती है, देश-प्रेम बढ़ता है और जीवनमें साहसके काम करनेकी प्रवृत्ति होती है। ऐसी कहानियाँ ही मनुष्यको मनुष्य बनानेमें सहायता करती हैं।

इस प्रकार कहानियोंका उचित संग्रह करके अध्यापकको सदा तैयार रहना चाहिए और उचित प्रकारसे कहानियोंका प्रयोग करके अपने पाठको आकर्षक और सर्वप्रिय बना लेना चाहिए। जो अध्यापक कहानी कहनेकी कला जानता है, उसके छात्र उसके विना मोल लिए दास बन जाते हैं।

हमने इसी अध्यायमें ऊपर कहा है कि लिखित कहानी और कही हुई कहानीके प्रभावमें बड़ा अन्तर होता है। नीचे हम एक कहानीके दोनों रूप देते हैं जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि कही हुई कहानी लिखितकी अपेक्षा कितनी प्रभावोत्पादक होती है।

[लिखित कहानी]

मेंढ़क और बैल

एक दिन एक मेंढ़क अपने बापके पास गया और बोला कि मैंने संसारका सबसे बड़ा प्राणी देखा है। वह पर्वतके समान ऊँचा है और उसके सिरपर दो सींग हैं। बूढ़ा मेंढ़क बोला कि वह तो भग्गल किसानका बैल है और वह कोई ऐसा बड़ा भी नहीं है। मैं भी उसके जितना बड़ा बन सकता हूँ। यह कहकर उसने साँस फुलाई और पूछता रहा—इतना बड़ा

था। पर मेँढकका बच्चा नहीँ-नहीँ करता रहा। अन्तमेँ बूढ़ा मेँढ़क इतना फूला कि उसका पेट फट गया।

[कथित कहानी]

काशीके पश्चिममेँ एक था ताल। उस तालमेँ एक रहता था मेँढ़क जिसका नाम था टर्रे खाँ। दिन-रात उसी तालमेँ घुसा हुआ वह टर्र-टर्र, टर्र-टर्र यही धुन लगाता था। एक दिन उसका लड़का मुटर्रे खाँ तालसे बाहर निकला और उछलता-कूदता थोड़ी दूर निकल गया। सामने देखता क्या है कि एक चार पैरोँवाला दो सीँगोँवाला, बिलकुल दूधसा धौला, बार बार अपनी पूँछ फटकारता हुआ एक जीव खड़ा है। मुटर्रे खाँने इतना बड़ा जीव तो कभी देखा न था, देखते ही उसके होश उड़ गए, समझा कोई पहाड़ है उठकर चला आया है। जानते हो वह क्या था। वह था भग्गल किसानका धौला बैल, बड़े डील-डौलका पछाँही बैल। अब जो बैलरामने दो-तीन बार सीँगोँसे फुँकारा और इधर उधर घूमा तो मुटर्रे खाँके देवता कूच कर गए। डरे कि कहीँ ऊपर पैर न धर दे। बस पैर धरा कि कचूमर निकला। मुटर्रेखाँ उलटे पैरोँ लौट पड़ा और ऐसा भागा कि धूल भी न दिखाई दी। तालमेँ पहुँचते ही छप्प, गड़प्प। झटसे टर्रेखाँके बाएँ बैठकर लम्बी लम्बी साँसेँ लेने लगा, मुँह पीला पड़ गया, गलेसे बोल न निकले। अपने बेटेकी यह दशा देखकर टर्रेखाँ घबराए। हड़बड़ाकर पूछने लगे—क्योँ तुझे क्या हुआ है, कोई साँप तो नहीँ मिल गया, सेवारमेँ तो नहीँ फँस गया था, किसीने जाल तो नहीँ डाला है। पर मुटर्रे खाँ चुप। कुछ बोलता नहीँ।

बड़ी देरके बाद ललला-मुन्ना कहनेपर मुटर्रे ख़ाँने कहा—दद्दा आज मैंने एक ऐसा जीव देखा जो पहाड़के जैसा बड़ा था।

टर्रे ख़ाँ—(आश्चर्यसे)—पहाड़के जैसा।

मुटर्रे ख़ाँ—हाँ दद्दा, पहाड़के जैसा।

टर्रे ख़ाँ—और।

मुटर्रे ख़ाँ—और उसके सिर पर दो सींग थे, पीछे एक पूँछ थी और बड़ी जल्दी जल्दी चलता था।

टर्रे ख़ाँ—(उछलकर) धत्तेरे की। अरे वह तो भग्गल किसानका बैल है। वह मेढ़कोंको थोड़े ही कुछ कहता है। उससे क्या डरना। और फिर वह मुझसे बड़ा थोड़े ही है। देख मैं उतना ही बड़ा हुआ जाता हूँ।

यह कहकर टर्रे ख़ाँने साँस भीतर खींची और अपनी तोंद फुलाकर मुटर्रेसे पूछा—क्यों रे मुटर्रे, इतना बड़ा था।

मुटर्रे—नहीं दद्दा, इससे बहुत बड़ा। टर्रे ख़ाँ और फूले। मुटर्रेने कहा—इससे भी बड़ा था। टर्रे ख़ाँ और फूले। मुटर्रे बोला—दद्दा इससे कहीं बड़ा था। टर्रे ख़ाँने और ज़ोरसे साँस खींची, आँखें लाल हो आईं, पर मुटर्रेने कहा, दद्दा वह बहुत बड़ा था। टर्रे ख़ाँने और ज़ोर लगाया—हुँः। पर मुटर्रेने वही पुराना राग अलापा—दद्दा अभी बहुत कमी है। इस बार टर्रे ख़ाँ झुँझलाए और पूरा ज़ोर लगाकर साँस खींची, आँखें बाहर निकल आईं, पेट कुप्पा बन गया। मुटर्रे ख़ाँने कहा—टर्र-टर्र, अभी नहीं हुआ। फट्। टर्रे ख़ाँका पेट फट गया और बेचारे टर्रे ख़ाँ बड़े बननेका दावा लिए इस दुनियासे चल बसे।

जो टर्रेखाँकी तरह छोटा होनेपर भी बड़ा बनने चलता है उसकी ऐसी ही दशा होती है। समझे।"

अब आपने समझ लिया होगा कि लिखित कहानी और कही हुई कहानीमें किस प्रकार अन्तर हो जाता है और कही हुई कहानी कितनी सजीव और आकर्षक हो सकती है। तनिकसा अभ्यास करनेसे ही कहानी कहनेकी कला आ सकती है और अध्यापकगण थोड़े ही परिश्रमसे इस कलामें निपुण हो सकते हैं।

१३

श्यामपट्टका प्रयोग

जिस प्रकार चित्रकारके लिये तूलिका और फलक परम वाञ्छनीय हैं ठीक उसी प्रकार अथवा उससे भी कुछ अधिक अध्यापकके लिये श्यामपट्ट तथा एक टुकड़ा खड़िया मिट्टीका महत्त्व है। ये दोनों वस्तुएँ सफल अध्यापककी सतत संगिनी हैं। शिक्षाशास्त्रके कतिपय आचार्य तो यहाँतक कहते हैं कि श्यामपट्ट और एक टुकड़ा खड़िया मात्र अध्यापकको दे दीजिए और यदि अध्यापक कुशल हुआ तो उसे फिर इनके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं। पुस्तकें, चित्र, मानचित्र आदि वस्तुएँ यदि अध्यापकके पास न रहें तो भी उतनी हानि कभी नहीं होगी जितनी हानि उपर्युक्त दोनों वस्तुओंके अभावमें हो सकती है। किन्तु साथ ही यह भी स्मरण रहे कि शिक्षण न तो सब 'भकभकिया' ही रहे न सब 'खड़िया' ही रहे, अर्थात् न तो आप सदा बोलते ही रहें और न श्यामपट्टसे ही लिपटे रहें।

श्यामपट्ट प्रायः काष्ठफलक होता है जिसे काले रंगसे रँग देते हैं। परन्तु आजकल कक्षाकी दीवारोंका भी कुछ भाग काले रंगमें रँगकर उन्हें श्यामपट्टका रूप दे दिया जाता है। कुछ शिक्षा-संस्थाओंमें इस श्यामपट्टने और भी अधिक उन्नति की है। वह बेढब ढंगसे रंग बदलने लगा है।

अबतक तो वह केवल काला था पर अब सौन्दर्य-वृद्धिके नाम-पर लोग हरे या लाल रंगके काष्ठफलकोंका प्रयोग करने लगे हैं। लाल रंग तो आँखोंके आगे अधिक रहना ही नहीं चाहिए किन्तु हरे रंगका काष्ठफलक भी इस कामके लिये उपयुक्त नहीं। क्योंकि वह बराबर लिखकर मिटा देनेके बाद ऐसा हो जाता है कि फिर उसपर लिखे हुए अक्षरोंको पढ़नेमें पीछे बैठनेवाले छात्रोंकी आँखोंको कष्ट होता है। किन्तु काले श्यामपट्टमें यह दोष नहीं रहता। उसपर खड़ियाकी श्वेतता चढ़ जानेपर भी उसपर लिखे हुए अक्षर स्पष्ट दिखाई देते हैं। अतः श्यामपट्ट श्याम ही होना चाहिए। साथ ही इसपर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि श्यामपट्टकी श्यामता रूखी हो, अधिक चटकीली न होने पावे और वह कक्षामें ऐसे स्थानपर रक्खा हुआ हो जहाँसे वह और उसपर लिखी हुई बातें कक्षाके सभी विद्यार्थियोंको समान रूपसे दृष्टिगोचर हो सकें। चटकीला काला होनेसे प्रकाश पड़नेपर वह चमकने लगता है और उसपर लिखा दिखाई नहीं पड़ता और चिकनेपनके कारण खड़िया भी ठीक नहीं चलती।

अब श्यामपट्ट प्रस्तुत हो जानेपर उसके प्रयोगका प्रश्न सामने आता है। मौखिक शिक्षाके साथ ही लिखित शिक्षा भी चलती रहे यही श्यामपट्टका उपयोग है।

बहुतसे लोगोंकी यह मिथ्या धारणा है कि जो कागजपर सुन्दर अक्षर लिख सकता है वह श्यामपट्टपर भी सुन्दर लिख सकता है। जिस प्रकार कागजपर सुन्दर लिखनेके लिये अभ्यास करना पड़ता है उसी प्रकार श्यामपट्टपर सुन्दर

लिखनेके लिये भी अभ्यास करना पड़ता है। दोनों प्रकारके लिखनेमें बड़ा अन्तर है। जब कागजपर हम कलम बैठाकर लिखते हैं तो इस बातका ध्यान भी रखते हैं कि अक्षरको कहाँ मोटा और कहाँ पतला करना चाहिए किन्तु श्यामपट्टपर अक्षरकी रेखाओंकी मोटाई एक सी होती है। कागजपर लिखनेमें प्रायः रेखा-खचित कागजोंका प्रयोग किया जाता है, इससे अक्षर समान बनानेमें स्वतः सहायता मिलती है किन्तु श्यामपट्टपर रेखाएँ नहीं होतीं और न पढ़ानेके समय इतना अवकाश ही रहता है कि पहले रेखाएँ खींची जायँ तब लिखा जाय। यदि पहले श्यामपट्टपर रेखाएँ खींच ली जायँ तो एक बार मिटानेपर पुनः रेखा खींचनेकी समस्या आ खड़ी होगी। फिर यह तो आवश्यक नहीं है कि केवल शब्द ही लिखने होंगे। शब्दोंके अतिरिक्त बीच-बीचमें रेखाचित्र, मानचित्र आदि खींचनेकी आवश्यकता भी पड़ सकती है। अतः श्यामपट्टपरकी लिखाई कागजपरकी लिखाईसे बहुत अंशोंमें भिन्न है। श्यामपट्टपरके अक्षर बड़े-बड़े, सुन्दर, शुद्ध, समान आकारके, सीधी पंक्तिमें और स्पष्ट हों तथा शीघ्र लिखे जायँ।

बड़े अक्षरोंका विधान इसलिये किया गया है कि कक्षाके सब छात्र उन्हें पढ़ सकें। ऐसा न हो कि आगेके छात्र तो पढ़ लें और पीछेवाले मुँह देखें। पर बड़े अक्षरोंका यह अर्थ भी नहीं है कि आप हाथ-हाथ भरके अक्षर लिखिए। अक्षरोंकी लम्बाई छः इञ्चसे कम और आठ इञ्चसे अधिक न हो।

लिखावटमें सुन्दरता की आवश्यकता तो निर्विवाद है। एक प्राचीन उक्ति है—

लिपिः प्रशस्ता सुमनो लतेव केषां न चेतांसि मुदा विभर्त्ति।
—अर्थात् सुन्दर लिपि फूलोंकी लताके समान किसको नहीं प्रसन्न करती। श्यामपट्टपर सुन्दर लिखनेसे एक यह भी बड़ा लाभ होता है कि यदि कोई छात्र किसी अक्षरकी बनावट टेढ़ीमेढ़ी, अशुद्ध या विरूप करता हो तो वह उस अक्षरकी सुन्दर बनावट देखकर उसका अनुकरण करेगा। स्वयं मेरा अनुभव है कि बचपनमें मैं अँगरेज़ीका एफ़् अक्षर (*f*) बड़े भद्दे ढंगसे लिखा करता था। मैं जब छठी कक्षामें पहुँचा तो मैंने देखा कि हमारे विज्ञानके अध्यापक वह अक्षर बड़ा सुन्दर और कलात्मक बनाते थे। बस मुझे उस अक्षरका रूप जँच गया और मैंने उसे अपना लिया। सुन्दर अक्षरोंका एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह भी पड़ता है कि जो अध्यापक सुन्दर अक्षर लिखता है उसके छात्र उससे प्रसन्न रहते हैं और श्यामपट्टपर सुघर अक्षरोंमें लिखी हुई बात शीघ्र याद भी कर लेते हैं। इसी प्रसङ्गमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अक्षर सीधे बनाने चाहिएँ टेढ़े नहीं।

सीधा अक्षर	टेढ़ा अक्षर
अ	अ

इसका कारण यह है कि सीधा अक्षर आँखोंको सुहाता है और टेढ़ा अक्षर आँखोंको कसकता है। फिर जब छात्रोंसे कागजपर सीधा अक्षर बनानेको कहा जाता है तो उनके समक्ष टेढ़े अक्षरोंका अवैज्ञानिक रूप रक्खा ही क्यों जाय। अक्षरोंकी

बनावटमें सदा रूप-साम्य होना चाहिए, जैसा पोथीमें हो वैसा ही श्यामपट्टपर भी हो।

श्यामपट्टपर सदा शुद्ध लिखना चाहिए यह निर्विवाद सिद्धान्त है। कभी-कभी शीघ्रतासे लिखनेके कारण अशुद्धियाँ हो जाया करती हैं इसलिये यह आवश्यक है कि लिखनेके पश्चात् एक बार उसपर दृष्टि डाल ली जाय। इस प्रकार आवृत्ति न करनेसे बहुधा भद्दी भूलें रह जाया करती हैं। श्यामपट्टपर नागरी लिखनेवाले प्रायः अनुनासिक (ँ) या अनुस्वार (ं) छोड़ जाते हैं। उन्हें लिखना चाहिए—

बालोद्यान = बालकोंका उपवन।

वे लिखते हैं—

बालोघान = बालकोका उपवन।

इसके अतिरिक्त मात्राओंकी तथा संयुक्त अक्षरोंकी अशुद्धियाँ भी हो जाया करती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि छात्र या तो उसी प्रकार अपनी कापियोंपर लिख लेते हैं अथवा खड़े होकर कह बैठते हैं—मास्टर साहब, यह आपने अशुद्ध लिखा है। ये दोनों ही अवस्थाएँ बुरी हैं। एकमें छात्रोंके ज्ञानका ह्रास होता है, दूसरेमें अध्यापककी साख बिगड़ती है, मान कम हो जाता है। अतः जो बातें श्यामपट्टपर लिखनी हों उनको पहलेसे भली भाँति देखकर आना चाहिए। जिस शब्दके रूपके विषयमें मनमें सन्देह हो उसे किसी दूसरे अधिकारी व्यक्तिसे पूछ लेना चाहिए अथवा कोशकी सहायता लेनी चाहिए। किसीको यह कभी नहीं समझना चाहिए कि मैं जो कहता या लिखता हूँ सब शुद्ध है, ठीक है।

एक प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्रीका कथन है कि सदा दूसरोंसे सीखते रहनेका प्रयत्न करना चाहिए और जब अवसर मिले तभी अधिकारी व्यक्तिसे ज्ञान लेने, सीखने या सम्मति लेनेमें हिचकना नहीं चाहिए और कभी इस बातका दावा नहीं करना चाहिए कि अमुक बात ऐसे ही है। सम्भव है आप जिसे अल्पज्ञ समझे हुए हैं वही उस बातको ठीक जानता हो। इस-लिये सदा यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि श्यामपट्टपर आप जो कुछ लिखें वह सदा शुद्ध हो।

कभी-कभी हम लोग छात्रोंसे उत्तर लेकर उसे श्यामपट्टपर लिख देते हैं। वह उत्तर यदि अशुद्ध हुआ तो हम उसे दूसरे छात्रोंकी सहायतासे शुद्ध कराते हैं। यह अभ्यास यद्यपि बुरा नहीं है किन्तु इसके लिये यह स्मरण रखना चाहिए कि वह अशुद्ध उत्तर बहुत देरतक छात्रोंकी दृष्टिके आगे न रहे अन्यथा इसकी बहुत सम्भावना है कि कोई छात्र अशुद्ध रूपको ही ग्रहण कर ले। हमारे एक मित्र अध्यापक इस सम्बन्धकी एक बड़ी रोचक कहानी सुनाते हैं। वे जब स्कूलमें नवीं कक्षामें पढ़ते थे तो उनकी कक्षाके किसी छात्रने 'इच्छा' शब्दको 'इक्षा' लिख दिया था। उनके हिन्दीके अध्यापक महोदयने 'इक्षा' शब्द श्याम-पट्टपर लिख दिया और समझाते रहे कि 'इक्षा' न लिखकर 'इच्छा' लिखना चाहिए। वह 'इक्षा' शब्द पूरे घंटेभर लिखा रह गया और हमारे मित्रके मस्तिष्कमें उसका रूप बैठ गया। उसका कुप्रभाव यह हुआ कि जब उन्हें 'इच्छा' लिखना होता है तो उनके हाथसे 'इक्षा' ही लिखा जाता है किन्तु दूसरी बार आवृत्तिके समय वे जब ध्यान देते हैं तब उसे ठीक करते हैं।

यह अभ्यास उनका अभीतक बना हुआ है। अतः कोई भी अशुद्ध शब्द या वाक्य श्यामपट्टपर न लिखो और यदि आवश्यकता ही हो तो उसका काम हो जानेपर उसके स्थानपर शुद्ध शब्द या वाक्य लिखकर देरतक रख छोड़ो।

श्यामपट्टपर अक्षर समान आकारके होने चाहिएँ—

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

इसीको यदि हम निम्नलिखित रूपमें लिखें तो कैसा भद्दा दिखाई देगा—

श्रीगणेशायनमः

प्रायः यह कठिनाई प्रारम्भमें सभी अध्यापकोंको होती है। इसके अभ्यासके लिये एक दुहरी रेखाओंवाला लिपटौवा श्यामपट आता है। उसपर प्रायः एक मासतक अभ्यास करनेसे समान आकारके अक्षर बनाने तथा सीधी पंक्तिमें अक्षर लिखनेका अभ्यास हो जाता है। अक्षरोंकी आकार-समता केवल एक ही पंक्तिमें नहीं अपितु श्यामपट्टपर लिखी हुई सभी पंक्तियोंमें होनी चाहिए। ये पंक्तियाँ भी परस्पर समान दूरीपर हों। यदि पहली और दूसरी पंक्तिके बीच दो इंच स्थान छूटा हो तो दूसरी और तीसरीके बीच भी दो ही इंच स्थान छूटे।

जब उपर्युक्त विधानोंके अनुसार अक्षर लिखे जायँगे तो वे अवश्य ही स्पष्ट होंगे। किन्तु प्रायः वे स्पष्ट नहीं होते। कारण यह है कि जब हम कागजपर लिखते हैं तो कलम, निब या निर्झरिणी (फ़ाउण्टेनपेन)को कागजपर

अधिक बल देकर नहीं चलाते, हलके हाथसे चलाते हैं। किन्तु यदि उसी कोमलतासे हम खड़ियाका प्रयोग भी करेंगे तो रेखाएँ धुँधली और अस्पष्ट होंगी। उस पर लिखा हुआ पीछे बैठनेवालों छात्रोंसे स्पष्ट बाँचा न जा सकेगा। इसलिये खड़ियाके मुँहको उँगलियोंमें भली प्रकार पकड़कर दबाकर लिखना चाहिए। इससे अक्षर भी कुछ मोटे बनेंगे, खड़ियाकी सफेदी अधिक चमकेगी और अक्षर स्पष्ट दिखाई देंगे।

इन बातोंके साथ साथ यह भी आवश्यक है कि लिखावटमें अधिक समय न लगाया जाय। जो कुछ लिखा जाय, शीघ्रतासे लिख दिया जाय। एक एक अक्षरको बनानेमें मिनटों न लगा दिए जायँ, क्योंकि श्यामपट्ट तो पाठको समझनेमें सहायक मात्र है। वह प्रमुख नहीं है, गौण है। अतः ऐसा अभ्यास डाल लेना चाहिए कि श्यामपट्टपर खड़िया द्रुत गतिसे चले।

अक्षर लिखनेके अतिरिक्त कभी-कभी श्यामपट्टपर चित्र आदि बनानेकी भी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु श्यामपट्ट-पर जो चित्र आदि बनाए जाते हैं उनकी सृष्टि सोद्देश्य होनी चाहिए, केवल कलाप्रदर्शनके लिए नहीं। साथ ही ऐसी वस्तुओंका भी चित्र न बनाना चाहिए जिनसे विद्यार्थी अत्यधिक परिचित हों। यदि गौका वर्णन आया हो तो उसका चित्र खींचनेकी आवश्यकता नहीं है किन्तु यदि गैंडेका वर्णन करना हो तो उसका चित्र खींचा जा सकता है। अथवा यदि 'सुम' और 'खुर'में भेद बतलाना हो तो खींचकर दिखाया जा सकता है।

इतिहासके शिक्षणमें श्यामपट्टपर देशोंके मानचित्र, युद्धस्थलोंके मानचित्र तथा समय-सरणियाँ भी खींचकर दिखानी चाहिएँ। ज्यामितिके सब रेखाचित्र तथा विज्ञानके प्रयोगोंके चित्र भी खींचकर समझाए जाने चाहिएँ। इन सब मानचित्रों या रेखाचित्रोंके खींचनेमें इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि ये शुद्धता, स्पष्टता और स्वच्छताके साथ खींचे गए हों।

इन मानचित्रों और रेखाचित्रोंको शुद्ध, स्पष्ट और स्वच्छ खींचनेके लिये पैमानों तथा अन्य उपकरणोंका प्रयोग कर लेना चाहिए। तिपल्ली लकड़ी (ट्रिप्लाइवुड)के विभिन्न देशोंके रूपके कटे हुए फलक भी मिलते हैं जिन्हें श्यामपट्टपर रखकर उनके चारों ओर खड़िया फेर देनेसे विभिन्न देशोंके शुद्ध मानचित्र बन जाते हैं। जिन्हें हाथसे मानचित्र बनानेका अभ्यास नहीं है उन्हें इन फलकोंका अवश्य प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार विभिन्न जानवरोंके रूपोंके भी फलक बनाए या बनवाए जा सकते हैं। ये फलक गत्तेके (कार्डबोर्डके) भी बनाए जा सकते हैं। आजकल शिक्षा-क्षेत्रमें हाथसे चित्र, मानचित्र आदि खींचनेवालोंको बड़ा मान दिया जाता है और छात्र भी उसमें विश्वास करते हैं, उनका ज्ञान भी पक्का होता है। इन उपर्युक्त बातोंका ध्यान रखकर जो अध्यापक श्यामपट्टका प्रयोग करेंगे उन्हें अत्यन्त शीघ्र श्यामपट्टपर लिखनेमें कुशलता प्राप्त हो जायगी।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी स्मरणीय बातें हैं जो श्यामपट्टके प्रयोगके समय आचरण करनेके सम्बन्धकी हैं।

उनकी अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है इसलिये उन्हें सूत्र रूपमें ही दिया जाता है—

१. श्यामपट्टके बहुत निकट नहीं खड़ा होना चाहिए।

२. छात्रोंकी ओर बिलकुल पीठ करके नहीं खड़ा होना चाहिए वरन् ऐसे आड़े होकर खड़े हो कि छात्र भी दिखाई देते रहें और श्यामपट्टका प्रयोग भी होता चले।

३. यदि श्यामपट्ट ऊँचा हो तो जहाँतक हाथ पहुँचे वहींसे लिखना प्रारम्भ करना चाहिए। एँड़ी ऊँची करके, उचककर नहीं लिखना चाहिए। यदि नीचा हो तो जहाँ शरीरको सीधा रखते हुए लिखा जा सके वहींतक लिखो। बहुत झुककर, पैर चौड़ाकर शरीरको बुरी तरह तोड़ मरोड़कर या झुकाकर मत लिखो ये मुद्राएँ भद्दी और फूहड़ हैं।

४. यदि लकड़ीका श्यामपट्ट हो तो बाएँ हाथसे उसे थामे रक्खो जिसमें वह हिले नहीं और नीचे भी उसका पाया एक पैरसे दबाए रहो।

५. लिखते समय केवल श्यामपट्टपर ही दृष्टि न बँधी रहे। बीच-बीचमें देखते रहो कि छात्रगण अपनी कापियोंपर लिख रहे हैं या गोलियाँ उछाल रहे हैं।

६. जब छात्र पोथीमें पढ़ रहे हों उस समय मत लिखो। जब वे पढ़ चुकें तब लिखो।

७. यदि आप कोई मानचित्र या चित्र न बना सकते हों तो मत बनाइए। अशुद्ध बनानेकी अपेक्षा न बनाना अधिक अच्छा है।

८. पाठ प्रारंभ करनेसे पहले श्यामपट्टको पोंछकर

स्वच्छ कर लो और जब पाठ समाप्त हो जाय तो उसे पोंछकर स्वच्छ कर जाओ।

९. कौन सी बात कितनी देरतक श्यामपट्टपर लिखी छोड़नी चाहिए इसका भली प्रकार विवेक कर लेना चाहिए। आवश्यकतासे अधिक समयतक कोई भी बात श्यामपट्टपर नहीं रहने देनी चाहिए।

१०. श्मामपट्टपर कुछ लिखना चाहिए यह आवश्यक नहीं है। प्रायः कविता पढ़ाते हुए श्यामपट्टका कम प्रयोग होता है और कम होना भी चाहिए। सदा श्यामपट्टका प्रयोग करना कोई धर्म नहीं है किन्तु अवसरपर उसका प्रयोग न करना अवश्य पाप है।

११. प्रायः भूगोल, इतिहास तथा विज्ञानके शिक्षणमें रंगीन खड़ियाओंका प्रयोग भी किया जाता है। अंगोंकी विभिन्नता अथवा रंगोंके वर्णनके लिये रंगीन खड़ियाओंका प्रयोग कर लेना चाहिए पर उसका यह परिणाम न हो कि श्यामपट्ट केवल चित्रशाला बनी रह जाय। इसलिये यथासम्भव श्वेत खड़ियाका ही प्रयोग करना चाहिए और जहाँ आवश्यक हो वहाँ भी विवेकसे काम लेना चाहिए कि किस रंगकी खड़ियाका प्रयोग ठीक होगा। बैंगनी और लाल खड़ियाका प्रयोग कभी नहीं करना चाहिए। इनसे दृष्टिमें दोष आ जाता है।

१२. श्यामपट्टको बीच-बीचमें धुलवाते रहना चाहिए जिससे उस परकी जमी हुई खड़िया धुल जाय।

१३. जिस झाड़नसे श्यामपट्टको पोंछो उसे झटकारो मत अन्यथा उसकी खड़ियाकी धूल आपके मुखपर, कपड़ोंपर और

साँसके साथ फेफड़ोंमें बैठ जायगी, इससे स्वास्थ्यको हानि पहुँचती है। यथासंभव थोड़े गीले और मोटे कपड़ेसे श्यामपट्ट पोंछना चाहिए।

१४. श्यामपट्टको ऐसे स्थानपर रखना चाहिए जहाँसे कक्षाके सभी छात्र उसपर लिखा हुआ सब कुछ स्पष्ट देख सकें।

इस प्रकार श्यामपट्टके प्रयोगका विधान पूरा हो जाता है।

१४

विनयकी व्यवस्था

हिन्दीमें अँगरेज़ीके डिसिप्लिन शब्दकी बड़ी छीछालेदर की गई है। इंगलिस्तानको सभ्यताका केन्द्र और अँगरेज़ीको सब भाषाओंका स्रोत समझनेवाले लोगोंने तो यहाँतक कह डाला है कि डिसिप्लिन शब्दका उचित पर्याय हिन्दीमें तो क्या संस्कृतमें भी नहीं है। जो इससे असहमत रहे उन्होंने भी उचित शब्द खोजनेका कष्ट न उठाकर मनमाने शब्द गढ़े। फलस्वरूप नियन्त्रण, नियमन, संयम तथा अनुशासन आदि अनेक शब्द इस अर्थमें चालू किए गए। इनमें नियन्त्रण शब्दका अर्थ तो है बलपूर्वक वशमें रखना; नियमनका अर्थ है बँधे हुए नियमोंके अनुसार गतिको परिमित कर देना; संयमका अर्थ है अपनेको वशमें रखना और अनुशासनका अर्थ है आज्ञा। न जाने कैसे अनुशासन शब्दका इस अर्थमें प्रयोग होने लगा। प्रायः कांग्रेसी पत्रों और कांग्रेसी मञ्चोंसे इस शब्दका बहुत प्रचार किया गया। जिसने संस्कृत पढ़ी है उसकी बात तो जाने दीजिए, जिसने रामायणमें यह चौपाई पढ़ी है—

जौ राउर अनुसासन पाऊँ। कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ॥

—वह भी यह जानता है कि अनुशासनका अर्थ होता है आज्ञा। जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है और विशेषतः प्राचीन शिक्षा-पद्धतिसे परिचय है वे जानते हैं कि अँगरेज़ीके

डिसिप्लिन शब्दका शुद्ध संस्कृत पर्याय है विनय। जब हम कहते हैं—

विद्या ददाति विनयम्।

—उसका अर्थ ही यह होता है कि विद्यासे हमें ऐसा ज्ञान मिलता है जिससे हम अपने जीवन और चरित्रको संयत (डिसिप्लिण्ड) बना सकें। योरोपमें यदि किसी व्यक्तिके विषयमें कहते हैं कि वह बड़ा विनयी (वेल् डिसिप्लिन्ड) है तो उसका तात्पर्य यह समझा जाता है जिस व्यक्तिके विषयमें यह विशेषण दिया जाता है वह रहन-सहनमें स्वच्छ, आचारमें नियमित, व्यवहारमें शिष्ट और अपने व्यवसाय-सम्बन्धी नियमों तथा अपने बड़ोंकी आज्ञा पालन करनेमें दृढ़, समाजमें उठने-बैठने, बोलने—बात करनेमें कुशल है। हमारे यहाँ विनय शब्द इस अर्थके अतिरिक्त यह अर्थ भी देता है कि विनयी व्यक्ति सच्चरित्र भी होता है अर्थात् हमारे यहाँ विनय शब्द केवल बाह्य आचरणकी साधनाका ही नहीं अपितु मन, बुद्धि और आत्माकी शुद्धताका भी द्योतक है।

विनयकी समस्या नये अध्यापकोंके लिये ही नहीं अपितु सिद्धहस्त अध्यापकोंके लिये भी लोहेका चना बनी हुई है। प्रतिदिन यह समस्या प्रत्येक अध्यापकके सम्मुख उपस्थित होती है और अनुभवी लोग अपनी शक्ति, योग्यता और बुद्धिके अनुसार उसका समाधान करते रहते हैं। ट्रेनिङ्ग स्कूलों और कौलेजों में नित्य यही कहा जाता है कि कक्षामें विनय रक्खो। सरकारी निरीक्षकगण (इन्स्पेक्टर) भी यही चाहते हैं कि कक्षामें विनय रहे। इसलिये सभी अध्यापक

लगनके साथ विनयकी साधनामें लगे दिखाई दे रहे हैं।

हमारे देशमें प्राचीन कालमें यह समस्या थी ही नहीं। उसका कारण यह था कि उस समय पढ़ानेवाले और पढ़नेवालेके बीच अध्यापक और विद्यार्थीका नहीं अपितु गुरु और शिष्यका सम्बन्ध था। प्रत्येक छात्र गुरुको देवता समझता था जिसकी कृपा पानेके लिये वह तरसता था, तपस्या करता था, सेवा करता था और प्रतिक्षण इस बातके लिये लालायित रहता था कि गुरुजी मुझे सेवा करनेका अवसर दें। उसकी यह धारणा थी कि विद्या तो गुरुकी प्रसन्नतासे मिलती है, पढ़नेसे नहीं। इसलिये छात्रगण तनसे, मनसे और धनसे भी गुरुको प्रसन्न करनेकी चिन्तामें रहते थे। वे स्वभावतः विनयी हो जाते थे। केवल बाह्य आचरणमें ही नहीं अपितु मनसे और हृदयसे भी वे पवित्र होते थे। गुरुके प्रति श्रद्धा और भक्तिसे उनकी भावनाएँ भी शुद्ध हो जाती थीं। जैसे स्वच्छ दर्पणमें प्रतिबिम्ब भी स्पष्ट पड़ता है उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति और सद्भाव से उनकी बुद्धि शुद्ध हो जाती थी और उसपर ज्ञानकी छाप पड़नेमें कठिनाई नहीं होती थी। इसीलिये विनयका प्रश्न आता ही न था। गुरुकुलमें पैर रखते ही चपलता, उद्दण्डता, नटखटपन आदि जितने भी बचपनके दुरभ्यास होते थे, नौ दो ग्यारह हो जाते थे। जैसे चपलसे चपल बालक भी मन्दिरमें पहुँचकर अपने माता-पिताको देवताके आगे प्रणाम करते देख हाथ जोड़ लेता और सिर झुका देता है ठीक उसी प्रकार नवागन्तुक शिष्य बड़े शिष्योंके आचारको देखकर भयमिश्रित श्रद्धाके साथ

गुरुके आगे झुक जाता था। गुरुकी एक अप्रत्यक्ष महत्ता उसके हृदयपर अङ्कित हो जाती थी। वहाँका वातावरण ही विनय सिखा देता था। वहाँ कोई लिखित नियमावली थी ही नहीं, सब कुछ स्वतः होता चलता था।

किन्तु अब समय बदल गया है। अब तो गुरुलोग, अध्यापक-गण घरसे गणपति-गौरीकी मानता मानकर चलते हैं कि दिन कुशलसे बीत जाय तो पाँच पैसेका प्रसाद चढ़ावें। अधिकांश छात्रगण यह समझते हैं कि हम शुल्क देकर पढ़ते हैं, अध्यापक हमारा सेवक है। अध्यापक भी सब प्रकारसे यही समझता है कि यदि मुझे अपनी जीविका रखनी है तो इन देवताओंको प्रसन्न करना ही पड़ेगा। इसीलिये आजकल ट्रेनिङ्ग कौलेजोंमें कक्षा-व्यवस्था (क्लास मेनेजमेंट) और विनय (डिसिप्लिन) पर बहुत कुछ पढ़ाया-सिखाया जाता है और यह शिक्षण-शास्त्रका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग समझा जाता है।

जब एक अभिभावक अपने बच्चेको स्कूलमें भेजता है तो वह केवल विद्या प्राप्त कराने मात्रके लिये ही उसे नहीं भेजता, वह आदमी बनानेके लिये भी भेजता है—ऐसा आदमी जिसका समाजमें मान हो, आदर हो। इसके लिये विशेष रूपसे यह आवश्यक हो गया है कि हम अपने छात्रोंको विनय सिखावें। किन्तु आजकल लोगोंमें विनयकी भावना कुछ दूसरे ही प्रकारकी हो गई है। उनका ध्यान यह है कि जो विद्यालयके छात्र पंक्तिमें चलते हों, पैर मिलाकर चलते हों, कक्षामें पाषाण-मूर्त्तिवत् बैठे रहते हों, किसी प्रकार कक्षामें गड़बड़ी न करते

हाँ, वे ही बालक विनयी होते हैं। अँग्रेजी विद्यालयोंमें विनयका प्राय: यही अर्थ लगाया जाता है।

नई मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंके अनुसार छात्रोंको परम स्वतन्त्रता दे देनी चाहिए, उन्हें अपने आप विकसित होने तथा सीखने देना चाहिए। श्रीमती मोन्तेसोरी तथा फ्रोबेल महोदय इसी सिद्धान्तके पक्षपाती हैं। किन्तु उनकी प्रणालीके अतिरिक्त अन्य अँगरेजी विद्यालयोंमें भी इस आत्मशिक्षाकी भावना बल पकड़ रही है। उसका कुपरिणाम यह हो रहा है कि वहाँके छात्र उद्दंड, उच्छृङ्खल और स्वच्छन्द हो रहे हैं, स्कूल तथा कक्षाएँ तरकारीकी सट्टियाँ बन रही हैं। पर ये दोनों ही अवस्थाएँ अवाञ्छनीय हैं। न तो इतना बाँधना ही चाहिए कि छात्र मशीनके पुरज़े हो जायँ न इतनी स्वतन्त्रता ही दे देनी चाहिए कि बालक अध्यापकोंकी पगड़ी उछालने लगें। पहले प्रकारके विनयकी साधनाके लिये मुख्याध्यापक लोग डंडेका प्रयोग करते हैं। कोई पंक्तिसे बाहर हुआ कि बेंत बरसने लगी, किसीने खँखारा कि सड़से कमची पड़ी, कोई कक्षामें ऊँघने लगा कि कमरपर डंडा पड़ा। इस प्रकार दंडदेवकी सहायतासे विनयकी साधना कराई जाती है। किन्तु इस प्रकारका विनय आडम्बरपूर्ण, दिखावटी और झूठा होता है। बलप्रयोगसे जो काम कराया जाता है वह कभी टिकाऊ नहीं हो सकता। शीघ्र ही बालकोंका हृदय उससे विद्रोह करने लगता है और वे सदा उसे साँसत समझते रहते हैं, उस क्रमकी अच्छाइयाँ भी बुराइयाँ ही जान पड़ती हैं। अतः इस प्रकारका विनय तो स्वतः दोषपूर्ण है।

अब रही स्वतन्त्रताकी बात। वह और भी अधिक भयानक है। नित्यप्रति होनेवाली हड़तालें इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अतः इन दोनोंके बीच कोई मध्यम मार्ग यह ध्यान करके निकालना चाहिए कि समाज हमसे किस बातकी आशा करता है, अभिभावक अपने बालकोंको क्या बनाना चाहते हैं। समाज चाहता है कि विद्यालयों से पढ़कर छात्र सदाचारी, आत्मसंयमी, आत्मत्यागी, समाजसेवी, बुद्धिमान तथा साहसी नागरिक बनकर निकलें। अतः हमें इस प्रकार विनयकी साधना करानी चाहिए कि हमारा यह उद्देश्य पूर्ण हो। यह तो निश्चय है कि छात्र जब कक्षामें बैठते हैं तो उनका उद्देश्य ज्ञान-संचय करना होता है। यह ज्ञान-संचय बिना एकाग्रचित्त हुए सम्भव नहीं है। अतः अध्यापकका पहला कार्य तो यह होना चाहिए कि छात्रोंका ध्यान पाठकी ओर आकर्षित करावे। यही विनयकी पहली सीढ़ी है और प्रायः इसी सीढ़ीपर लोग फिसल पड़ते हैं। सच पूछो तो विनयके सम्पूर्ण साधन इसी सीढ़ीको पार करनेके लिये जुटाए जाते हैं।

पाठमें एकाग्रचित्तता इसीसे नहीं समझनी चाहिए कि छात्र चुप हैं, बोल नहीं रहे हैं। संभवतः कुछ झपकियाँ ले रहे हों, कुछ दूसरा ही काम कर रहे हों, कुछ उपन्यास पढ़ रहे हों और कुछ बालक ध्यानसे सुननेकी मुद्रा बनाए शतरंजकी चालें सोच रहे हों। एकाग्रचित्तताका अर्थ यह है कि बाह्य विनयके साथ-साथ आन्तरिक या मानसिक विनय भी हो। शरीरकी बाह्य इन्द्रियोंके साथ-साथ मन भी स्थिर हो। अध्यापक सदा यह चाहता है कि पाठके समय छात्रोंका

ध्यान पोथीमें रहे, उसके बोलनेके समय छात्रोंकी दृष्टि उसके मुँहपर रहे, उनके कान उसकी बातोंको सुनें और श्यामपट्टपर लिखते समय छात्रोंकी दृष्टि श्यामपट्टपर जमी रहे। अध्यापक यह भी चाहता है कि छात्र पाठके बीचमें बोलें नहीं, विघ्न न डालें, जूते न रगड़ें, डेस्क न खड़खड़ावें। अतः हमें यही विचार करना है कि कक्षाके तीस-बत्तीस छात्रोंकी इन्द्रियों और उनके मनोंकी एकाग्रता किस प्रकार साधी जाय।

कक्षामें विनयकी स्थापनाके लिये सबसे प्रमुख वस्तु है अध्यापकका व्यक्तित्व। व्यक्तित्वकी व्याख्या हम पीछे अध्यापकके गुणोंके साथ कर आए हैं। व्यक्तित्वसे तात्पर्य यही है कि अध्यापकके शरीरसे, वेशसे और व्यवहारसे ऐसा प्रकट हो, छात्रोंपर ऐसा आतङ्क, ऐसा रोब छा जाय कि पहली दृष्टिमें, पहली भेंट में उन्हें यह विश्वास हो जाय कि इस व्यक्तिसे डरना भी चाहिए और इसकी पूजा भी करनी चाहिए।

किन्तु व्यक्तित्वसे भी अधिक प्रभावशील अस्त्र है मृदु व्यवहार। व्यक्तित्व वास्तवमें ईश्वरका प्रसाद है, सबको नहीं प्राप्त हो सकता और मनुष्य उसमें बहुत कुछ हेर-फेर भी नहीं कर सकता। किन्तु अपने व्यवहारको 'कोमल रखना तो प्रत्येक व्यक्तिके हाथमें है। अँगरेज़ीमें एक कविता है—

स्पीक जेन्ट्‌ली, 'टिस बेटर फ़ार
टु रूल बाइ लव दैन् फ़ीअर;
स्पीक जेन्ट्‌ली, लेट् नो हार्श वर्ड्‌स मार
दि गुड वी माइट डू हीअर॥

अर्थात् नम्रतासे बोलो, डर दिखाकर शासन करनेकी अपेक्षा प्रेमसे शासन करना कहीं अच्छा है। नम्रतासे बोलो, ऐसा न हो कि हम जो भलाई या अच्छा काम करना चाहते हों उसे हमारे कठोर शब्द ले बीतें।

किन्तु मृदु व्यवहारका तात्पर्य दाँत निपोरना, खीसें निकालना और आत्मसमर्पण कर देना नहीं है। आपके मृदु व्यवहारसे छात्रोंको यह आभास न मिल जाय कि आप स्वयं भयभीत हैं और बात-बातमें छात्रोंकी कृपापर अवलम्बित हैं। आपके मृदु व्यवहारका अर्थ यही है कि छात्रोंको यह प्रतीत हो कि अध्यापक महोदय बड़े उदार, महान् और कृपालु हैं। छात्र आपकी कृपाके भूखे रहें। यह मृदु व्यवहार कई प्रकारसे प्रकट किया जा सकता है। आप किसी दीन बालकको आर्थिक सहायता दे सकते हैं, जो पाठमें पिछड़े हुए हों उन्हें अलग बुलाकर पढ़ा सकते हैं, जो कोई किसी विषयमें सम्मति लेने आवे उसे सम्मति दे सकते हैं। अर्थात् मृदु व्यवहारका सीधा तात्पर्य यही है कि कक्षामें और कक्षाके बाहर आपकी वृत्ति सहानुभूति, उदारता और विशाल-हृदयताकी द्योतक रहे, हर समय आप सहायता करनेको उद्यत दिखाई पड़ें। मृदु व्यवहारका अर्थ वह सीधापन कभी नहीं है जो प्रायः मूर्खोंकी विशेषता समझी जाती है।

इसी स्थानपर यह भी कह देना आवश्यक है कि अध्यापकका पांडित्य भी विनयमें बहुत सहायक होता है। यदि छात्रोंको ज्ञान हो जाय कि अमुक अध्यापक अत्यन्त विद्वान् है तो उसकी विद्याका एक अलौकिक प्रभुत्व छात्रोंपर स्थापित

हो जाता है किन्तु इसके लिये यह परम आवश्यक है आप समय-समयपर अवसर देखकर अपनी विद्वत्ताका प्रकाश भी करते चलिए। विद्वत्ता या पांडित्यका अर्थ केवल डिग्री-संचय या परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होना ही नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि आप पांडित्य दिखाने, अपने ज्ञानका विकाश करनेके अवसरोंपर चूकिए मत। अपने विषयके प्रत्येक अंगको ऐसा मथ रखिए कि उसका नवनीत आप किसी समय भी वितरित कर सकें। बार-बार पुस्तककी शरण लेना, पन्ने खोजना निम्न कोटिके अध्यापकोंका लक्षण है। इसीलिये हमारे देशमें स्वाध्यायकी रीति प्रचलित है। आजकल भी प्रत्येक अध्यापकको अपने विषयका स्वाध्याय, उस विषयसे संबद्ध नए ग्रन्थोंका परिशीलन और नव-विज्ञानसे परिचित रहना चाहिए। तभी अध्यापक छात्रोंको उचित मार्ग प्रदर्शन कर सकेगा, ठीक मार्ग सुझा सकेगा। इसलिये कक्षामें भली भाँति पाठको तैयार करके जाना चाहिए।

विनयके लिये यह भी आवश्यक है कि अध्यापक भी विनयी हो अर्थात् वह छात्रोंसे जो कुछ कराना चाहता हो उसे स्वयं भी करनेके लिये प्रस्तुत हो। यदि वह चाहता है कि छात्र सीधे बैठ, कक्षामें समयसे आवें और स्वच्छ रहें तो उसे स्वयं भी सीधे बैठना, समयसे आना और स्वच्छ रहना चाहिए। उदाहरण उपदेशसे श्रेष्ठतर होता है। यदि आप सुस्त और ढीले हुए तो कक्षा भी सुस्त और ढीली हो जायगी। यथा राजा तथा प्रजाके समान ही यथा गुरुः तथा शिष्याः भी हो जायँगे।

आप छात्रोंसे कभी यह आशा न करें कि घंटेके चालीसों मिनट (यहाँ पढ़ाईके घंटेसे तात्पर्य है, साठ मिनटवाले घंटेसे नहीं) वे शान्त और एकाग्रचित्त रहेंगे क्योंकि यह तो उनके स्वभावके प्रतिकूल है। इसलिये उनकी एकाग्रता बनाए रखनेके लिये यह आवश्यक है कि पाठके बीच भिन्न-भिन्न कुतूहल-वर्द्धक तथा रुचिकर विधियोंका प्रयोग किया जाय। इसके विषयमें हम दृश्य-विधान तथा वाच्य-विधानोंके प्रयोगको समझाते हुए विस्तारसे कह चुके हैं। तात्पर्य यही है कि छात्र एक क्षणको भी खाली न छोड़ दिए जायँ अन्यथा उनके चित्तके भीतर बैठा हुआ बन्दर अवश्य उछलकूद मचावेगा। उनको काममें लगाए रखिए और वह काम भी एक ही प्रकारका न हो अन्यथा उसमें नीरसता आ जायगी। उन्हें ऐसा बदला हुआ, विभिन्न प्रकारका काम दिया जाय जो रुचिकर तथा कुतूहलवर्द्धक होनेके साथ-साथ ज्ञानवर्द्धक भी हो। यदि बीच-बीचमें छात्र अधिक थके जान पड़ते हों और उन्हें कुछ छुट्टी चाहती हो तो एक कहानी कह डालिए, पहेली-बुझौवल करा लीजिए किन्तु बेकार न बैठने दीजिए क्योंकि बेकारी दुर्विनयका अड्डा है।

हम प्रारम्भमें ही कह आए हैं कि विनयकी बहुत सी समस्याओंका तो आपकी दृष्टि, आपके कान और आपकी भावभंगियों और मुद्राओंसे समाधान हो जाता है। पैनी दृष्टि, मधुर और गम्भीर वाणी और सधे हुए कान विनयके स्वाभाविक रक्षक हैं। आपकी दृष्टि ऐसी हो कि कक्षाके भीतरकी प्रत्येक क्रियाको वन्दी कर सके और आपके कान ऐसे

सधे हों कि सुई गिरे और आप पहचान लें कि कक्षाके किस कोनेसे शब्द आया। अपनी मुद्रा ऐसी रखिए कि आपको अपनी वाणीका बारबार प्रयोग न करना पड़े। देखतेही अपराधी सन्न हो जाय, उसका अपराध उसके मुँहपर आ पहुँचे, वह स्वयं लज्जित हो जाय और आत्म-ग्लानिसे भर जाय। पर सभी बातें नहीं सुननी चाहिए। कक्षाकी कुछ बातें सुनी भी अनसुनी कर देनी चाहिए किन्तु अनुभवसे ही यह ज्ञान हो जायगा कि क्या नहीं सुनना चाहिए। न सुनना भी एक कला है और यह भी एक अलग कौशल है।

कक्षामें विनयके लिये सजीवता लानी चाहिए, कुछ होता रहना चाहिए। उस होते रहनेमें कड़ाई, कठोरता, विषमता नहीं होनी चाहिए वरन् कुछ हँसी, विनोद, चुटकले, चुहल भी होता रहना चाहिए। कक्षा कोई क़ब्रिस्तान नहीं है जहाँ सब मुहर्रमी इकट्ठे हों। बहुत कुछ हँसी-विनोद तो अध्यापककी भाव-भङ्गियों से ही सम्पन्न हो जाता है किन्तु ये भाव-भङ्गियाँ शीलयुक्त, शिष्ट और सोद्देश्य होनी चाहिएँ। इनके प्रयोगपर हम पीछे एक अध्याय ही लिख आए हैं। इस सम्बन्धमें यही स्मरणीय है कि छात्रोंको बनाने अर्थात् मूर्ख बनाने और अपमानित करनेकी प्रवृत्ति कभी नहीं होनी चाहिए। इससे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक सम्भव है।

बहुतसे लोग जब नये नये अध्यापक होकर जाते हैं तो विनयकी रक्षाके लिये बड़े सचेष्ट रहते हैं। बारबार छात्रोंको डाँटते और चुप कराते रहते हैं। इस प्रकार बारबार चुप रहने, एकाग्रचित्त होने, ठीक बैठने आदिके लिये आज्ञा देना

अक्षमताका चिह्न है। केवल अक्षम अध्यापक ही बारबार चिल्लाते हैं—चुप रहो, सीधे बैठो, क्यों बातें करते हो। श्रेष्ठ अध्यापक तो अपनी तर्जनी दिखाकर या केवल आँखोंसे ही अपना काम निकाल लेता है। किन्तु यदि इस प्रकारकी आज्ञा देनेका प्रयोजन भी हो तो आज्ञा देनेसे पहले उस आज्ञाके औचित्यपर विचारकर लीजिए और यथासम्भव कम आज्ञाएँ दीजिए। इसीके साथ यह भी स्मरणीय है कि बारबार ध्यान देनेके लिये प्रार्थना मत करो—कृपा करके ध्यान दो, या भाई जरा ध्यान तो दो, आदि। यह भी अक्षमताका ही द्योतक है। छात्रोंको इससे टेक मिल जाती है, वे आपकी नस पकड़ लेते हैं और फिर आपको पगड़ी सँभालनी कठिन हो जाती है। बीच बीचमें अचानक कुछ उदाहरणों, कथाओं, दृष्टान्तों आदिके देनेसे छात्रोंके भटके हुए मन फिर एकाग्र हो जाते हैं। प्रायः कथाओंमें जो बारबार जय बुलवाई जाती है उसका उद्देश्य ध्यान आकर्षित करना ही होता है। इसी प्रकार पाठके बीचमें विभिन्न साधनोंके प्रयोगसे ध्यान आकर्षित किया जा सकता है पर जय बुलवाकर नहीं।

किन्तु निरन्तर अधिकार जताना भी ठीक नहीं है। "मैं सबको ठीक कर दूँगा, मैं तुम लोगोंको चुप करके छोड़ूँगा आदि कथन अहंभावके द्योतक हैं और अध्यापक की प्रतिष्ठा और यशके लिये परम घातक हैं। इस प्रकार अधिकार जताने और डाँटने-फटकारनेसे लड़के तत्काल भले ही डर जायँ और चुप हो जायँ किन्तु उनके मनमें आपके प्रति श्रद्धा नहीं जम सकती। 'ध्यान दो नहीं तो चमड़ी उधेड़ दूँगा' आदि बातें

कभी नहीं कहनी चाहिए क्योंकि पहले तो आप चमड़ी उधेड़ नहीं सकेंगे और यदि ऐसा करेंगे तो सरकारी वन्दीगृह आपको अधिक समयके लिये अपना अतिथि बना रक्खेगा। हम ऊपर भी कह आए हैं कि अपनी विद्याका भय दिखाओ, अपनी पाशविक शक्तिका नहीं। साथही हमारा यह भी तात्पर्य नहीं है कि कभी डाँटो ही नहीं। डाँटो और अवश्य डाँटो किन्तु नित्य नहीं, अभ्यासवश नहीं, नियमतः नहीं, अपितु कभी प्रसङ्गवश अवसर पड़नेपर ही। उचित अवसरके परिज्ञानके लिये अपने विवेकसे काम लीजिए।

अन्तिम बात इस सम्बन्धमें यह है कि अपना विनयका क्रम नियमित रक्खो। आज सिंह और कल बकरी बननेसे काम नहीं चलेगा। अपना ऐसा मध्यम मार्ग बना लेना चाहिए जिसमें न अधिक कठोरता हो न अधिक मृदुता। अवसर-अवसरपर उसे तनिकसा घटा-बढ़ा देनेसे उसका बलांश बना रहता है और इस प्रकार छात्रोंको उचित शिक्षा भी मिल जाती है, वे नियमित और विनयी हो जाते हैं।

इतना सब कह चुकनेपर भी सत्य बात तो यह है कि विनयकी समस्याका कोई एक निर्दिष्ट समाधान नहीं है। अनुभव और मानव-मनस्तत्त्वके अध्ययनसे मनुष्य अधिकाधिक सीखता चलता है और यह समझता चलता है कि किस अवसरपर किस उपायका अवलम्ब लेनेसे उद्दिष्ट फल प्राप्त हो सकता है।

१५

असाधारण बालक और दंडविधान

कुछ लोग प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि संसारमें और लोग तो हीरे-मोती, सोने-चाँदी आदिका व्यवसाय करते हैं, हम आदमियोंका व्यापार करते हैं। आदमियोंका व्यापार सुनकर सभ्य समाज एक बार चौंक उठ सकता है और समझ सकता है कि ऐसा कहनेवाला व्यक्ति मनुष्योंका क्रय-विक्रय करता है। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको दास बनानेके लिये खरीदता और बेचता है। ऐसे लोगोंका यह कहकर समाधान करना चाहिए कि इन शब्दोंका अर्थ केवल यह है कि जिस प्रकार अन्य वस्तुओंका व्यवसायी अपने व्यापारसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंके विषयमें पूरी जानकारी रखता है उसी प्रकार इन शब्दोंका प्रयोग करनेवाला मानवचरित्रकी साङ्गोपाङ्ग जानकारी रखता है। उसे भिन्न प्रकारके आचार-विचार, रहन-सहन, मति-गति रखनेवाले मनुष्योंके बीच रहना पड़ा है और इसीलिये उसे भिन्न-भिन्न रुचि, बुद्धि और स्वभाववाले मनुष्योंका पूरा परिचय है। ऐसी जानकारी रखनेवाले विचक्षण पुरुष व्यक्ति-विशेषपर दृष्टि पड़ते ही यह बतला दे सकते हैं कि वह चोर है या साधु, व्याध है या वैष्णव, महाधूर्त्त है अथवा परम सत्यवादी।

यद्यपि आज मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्रके

अध्ययन और प्रचारसे मनुष्योंकी चित्तवृत्ति पहचाननेका प्रयत्न किया जा रहा है परन्तु यह मनुष्य पहचाननेकी विशेष कला किसी पाठशाला अथवा गुरुकुलमें नहीं सिखाई जाती और इसके लिये जो पुस्तकें भी हैं वे निश्चित रूपसे पूर्ण प्रामाणिक नहीं हैं। अभीतक इस विषयपर खोज हो रही है और अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया है । वास्तवमें जो यह विद्या सीखना चाहें उनके लिये यह विराट् विश्व ही विश्व-विद्यालय है, अनुभव ही अध्यापक है, मनुष्योंकी आकृतियाँ ही खुली हुई पोथियाँ हैं और सारा जीवन ही छात्रावस्था है। साथ ही यह विद्या इतनी आवश्यक है कि इसके अभावमें मनुष्य-जीवनके किसी भी क्षेत्रमें सफलता नहीं मिल सकती और फिर अध्यापकके लिये तो इसके ज्ञानसे अपरिचित होना अत्यन्त अनर्थकारी है। मनुष्य पहचाननेकी कलामें अक्षम अध्यापक सफल अध्यापक हो ही नहीं सकता। अध्यापकका सबसे पहला कर्त्तव्य यही है कि वह अपने प्रत्येक शिष्यकी आकृति एवं प्रकृतिसे शीघ्र ही भली भाँति परिचित हो जाय।

साधारण अँगरेज़ी विद्यालयके अध्यापकको नित्य कमसे कम चार कक्षाओंसे पाला पड़ता है। वह नित्य सवा सौके लगभग छात्रोंके संसर्गमें आता है। यदि इन सवा सौ छात्रोंके स्वभाव तथा चरित्रका विश्लेषण किया जाय तो मोटे तौरसे उनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ बनेंगी—

बुद्धिके अनुसार—

१. कुशाग्र-बुद्धि—जो पाठको एक बारमें पढ़कर समझ ले।

२. साधारणतः बुद्धिमान्—जो ध्यान देनेसे शीघ्र समझ ले।

३. परिश्रम करके समझनेवाला—जिसे सीखने और समझनेके लिये परिश्रम करना पड़े।

४. मन्दबुद्धि—जो बार-बार समझाने पर भी न समझे।

५. मूढ़—जो किसी भी काममें रुचि न दिखलावे और कभी कुछ भी न समझ पावे, जो सुन्दर वस्तुको देखकर या सुनकर प्रभावित न हो।

६. सनकी—जो अर्द्धविक्षिप्त हो। सनकमें आ गई तो बीस घंटे पढ़ते ही रहे, लिखते ही रहे या गणित ही करते रहे।

७. पागल—जिसके मस्तिष्कमें विकार आ गया हो, ज्ञान-शून्यता हो गई हो।

स्वभावके अनुसार—

१. सीधे—जो अपने कामसे काम रखते हैं, न किसीको छेड़ते न किसीसे अधिक मिलते-जुलते हैं। उन्हें कोई गाली भी दे तो चुपचाप सुनकर सह लेते हैं, उत्तर नहीं देते। ऐसे छात्रोंकी रक्षाका भार अध्यापकपर ही होता है।

२. चंचल—जिनमें इतनी अधिक शक्ति भरी रहती है कि वे एक क्षणके लिये भी स्थिर नहीं रह सकते। खंजनके समान प्रतिक्षण उछल-कूद, उठ-बैठ मचाए ही रहते हैं, उनके सब अङ्ग सदा चंचल रहते हैं।

३. नटखट—जो प्रतिक्षण इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किस प्रकार हम एक नई घटनाका निर्माण करें और दूसरोंको तङ्ग करें।

चरित्रकी दृष्टिसे—

१. अत्यन्त सच्चरित्र—जो सत्यवादी, मृदुभाषी, सबको

सहायता देनेवाले और नियमित आचरणवाले होते हैं।

२. मध्यम चरित्रवाले—जो मनसे सच्चरित्र नहीं होते किन्तु समाजके या दंडके भयसे अपना आचरण ठीक बनाए रखते हैं।

३. दुश्चरित्र—जो झूठे, कठोरभाषी, सीधे लड़कोंको तंग करनेवाले, चरित्रहीन और अपने सब कार्योंमें अनियमित होते हैं तथा सुन्दर बालकोंका पीछा किया करते हैं।

४. गुण्डे—जिनका काम भोले-भाले लड़कोंको डरा-धमकाकर पैसे ऐंठना या तंग करना होता है।

शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे—

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे।

२. दुर्बल और रोगग्रस्त।

३. बहुत मोटे।

४. बहुत पतले।

५. सुदर्शन।

६. कुदर्शन।

७. साधारण स्वास्थ्यवाले।

आचरणकी दृष्टिसे—

१. व्यसनी—अ. खानेका व्यसन—चटोरे।

आ. पहननेका व्यसन—छैले।

इ. मेले तमाशेका व्यसन—घुमक्कड़।

ई. गाने-बजानेका व्यसन।

उ. सिनेमाका व्यसन।

ऊ. उपन्यास-कहानी पढ़नेका व्यसन।

ए. नशेका व्यसन—सिगरेट, पान, तम्बाकू,

भाँग आदिका व्यसन।

ऐ. खेल-कूद्का व्यसन।

ओ. पढ़नेका व्यसन।

औ. नेतागिरीका व्यसन।

अं. चित्र खींचने आदिका व्यसन।

अः. जुआ खेलनेका व्यसन।

२. कामचोर—जो आलसी या अकर्मण्य होते हैं। जो काम बताया जाय उसे करनेमें जी चुरावें, दूसरोंपर टाल दें या देरसे करें और यदि करें भी तो रो-गाकर, प्रसन्न मनसे नहीं।

३. भगोड़—कक्षामेंसे भाग जानेवाले। घरसे पाठशालाके लिये चलें और पहुँच जायँ उद्यानमें।

४. निश्चिन्त—जिन्हें अपने निर्दिष्ट कार्यकी कभी चिन्ता ही नहीं रहती। विद्यालय जाते-जाते बीचमें बन्दर-भालूका नाच होता हो तो देखने ठहर जाते हैं।

५. लोभी—जो सदा दूसरोंसे कुछ पानेकी ही आशा करे।

६. कंजूस—अपनी वस्तु अथवा पैसा किसीको न दे, उलटा दूसरोंका ले ले।

७. सदा असन्तुष्ट—अपने घरकी, विद्यालयकी, मित्रोंकी सभीकी शिकायत करनेवाला, मानो सारे संसारने उसपर अन्याय किया हो।

८. ईर्ष्यालु—दूसरोंकी उन्नतिसे डाह रखनेवाला।

९. अहंकारी—अपनेको बड़ा योग्य, चतुर और सर्वगुण-सम्पन्न समझनेवाला यद्यपि उसमें योग्यता कुछ भी न हो।

१०. साहसी—जो दूसरोंको बचानेके लिये अपने ऊपर

कष्ट सहे, साहसके काममें सदा आगे रहे, कभी डरे नहीं।

११. दुखी—घरकी परिस्थितियोंके कारण विपन्न और निराश्रित तथा इसी कारण पठन-पाठनमें असावधान और अनियमित।

१२. दुर्ललित—लाड़-प्यारमें बिगड़े हुए, बात-बातमें अपने माता-पिताकी दुहाई देनेवाले, अशिष्ट और कामचोर बालक।

१३. कुसंगवाले—जिन्हें ऐसे बुरे आदमियोंकी सङ्गत मिली हो जो उन्हें चरित्रहीन और अपव्ययी बनाते हों।

१४. स्वाभाविक अपराधी—नियमित अपराधियों या निम्न श्रेणीके वे लड़के जो चोरी, जेबकतरी, उचक्कापन हत्या आदि सभी कुविद्याओंमें संस्कारतः कुशल हों।

१५. अनियमित—समयपर न आनेवाला और नियमसे काम न करनेवाला।

ऊपर हमने विद्यालयोंमें मिलनेवाले यथासंभव सभी प्रकारके बालकोंका ब्यौरा दिया है किन्तु यह सूची पूरी नहीं है। अभी बहुत सी ऐसी श्रेणियाँ संभव हो सकती हैं जो हमारी तालिकामें छूट गई होंगी किन्तु साधारणतया अध्यापकोंके व्यवहार और अनुभवमें आनेवाले छात्रोंके प्रायः सभी प्रकार हमारी सूचीमें आ गए हैं। हम इस अध्यायमें यही विचार करेंगे कि इन छात्रोंको वशमें रखने और उन्हें उन्नत बनानेके लिये कौनसी कलाएँ काममें लाई जायँ।

यदि हम किसी साधारण बुद्धिवाले व्यक्तिसे पूछें कि अच्छे बालकोंसे कैसे व्यवहार किया जाय और दुष्ट बालकोंसे कैसा, तो वह तत्काल यह उत्तर देगा कि अच्छे बालकोंसे प्रेमका

व्यवहार करो, उन्हें पुरस्कार दो और दुष्ट बालकोंको दण्ड दो। किन्तु हम देखते हैं कि साधारणतया अध्यापकगण सबको एक लाठीसे हाँकते हैं। जिनपर उनकी लाठी असफल सिद्ध हो जाती है उसे वे बहिष्कृत विद्यार्थियोंकी श्रेणीमें रख देते हैं वे उन्हें समस्या मानकर उसको सुलझानेका कोई उपाय नहीं करते। मान लीजिए किसी कक्षामें एक ऐसा विद्यार्थी है, जो पढ़ने-लिखनेसे जी चुराता है, पाठशालामें जो कार्य्य उसे घरपर करनेके लिए दिया जाता है उसे नहीं करता, कक्षामें अध्यापक-द्वारा लांछित और अपमानित होता है, अध्यापक जब गणित पढ़ाते हैं उस समय वह चित्रकारी करता है, जिस समय उसके सहपाठी अपना पाठ घोखते हैं उस समय वह तान लड़ाता है। ऐसे विद्यार्थीको साधारणतया अध्यापकगण मूढ़ समझ लेते हैं। पर यदि सभी बातोंपर विचार किया जाय तो वह विद्यार्थी कदापि मूढ़ प्रमाणित न होगा। उसमें बुद्धिका अभाव नहीं है। परिश्रम करनेमें भी वह पीठ नहीं दिखाता। चार-छः घंटे नित्य ही जब वह संगीतका अभ्यास करता है तो उसे आलसी कैसे कहा जा सकता है। प्रस्तुत विद्यार्थीमें दोष केवल इतना है कि उसकी रुचि अन्य दिशाकी ओर है। उसके इच्छित विषयको माध्यम बनाकर यदि उसे पढ़ने-लिखनेकी शिक्षा दी जाती तो वह अवश्य सफल होता।

इसी प्रकार कुछ विद्यार्थी ऐसे भी होते हैं जो दीन-हीन परिवारोंसे आते हैं। वे साधारणतया सुबुद्धि-सम्पन्न होते हैं, उनमें लगन होती है और चरित्र-दोष भी प्रायः नहीं होता।

जिस वातावरणमें वे पलते हैं वह भी अवाञ्छनीय प्रभावकारक नहीं होता। फिर भी वे पाठ्य विषयको भली भाँति हृदयङ्गम नहीं कर पाते। परिणाम यह होता है कि वे बुद्धिहीन मान लिए जाते हैं और यह विचार नहीं किया जाता कि सारी झंझटका कारण उनकी शारीरिक दुर्बलता भी हो सकती है, पौष्टिक भोजनका अभाव भी इसके लिये दायी हो सकता है, और घरकी दरिद्रताकी चिन्ता भी उसे सता सकती है।

इसके अतिरिक्त अनेक अंशोंमें बालकके माता-पिता भी बालकोंमें उलझनें उत्पन्न कर देते हैं। रोग कुछ होता है ओषधि कुछ दी जाती है। एक उदाहरणके द्वारा इस प्रसंगको स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा।

किसी विद्वान् सज्जनका एक लड़का है। उक्त सज्जन उसे अपने ही जैसा विद्वान् बनाना चाहते हैं। उनके विचारसे विद्वान् बननेकी एक मात्र युक्ति है—सबको तजो, विद्याको भजो। खेल-कूद, तमाशा सब कुछ उन्होंने अपने पुत्रके हितकी दृष्टिसे निषिद्ध कर रखा है। पर यही निषेध उनके पुत्रका गला घोंट रहा है। वे अच्छे अच्छे अध्यापकोंको अपने पुत्रका गृह-शिक्षक नियुक्त करते हैं। पर बालक दिन दिन नटखट होता जाता है। अध्यापकके आनेपर वह शिष्ट विद्यार्थीके समान उसके सामने उपस्थित होता है, काम करना भी प्रारम्भ करता है, पर दस ही पाँच मिनटोंके पीछे वह अन्तःपुरकी ओर देखकर बोल उठता है—हाँ! अच्छा अभी आया—और घरमें घुस जाता है, फिर लौटनेका नाम नहीं लेता। एक लाल दाढ़ीवाले मौलवी साहब उसे पढ़ाने आते

हैं। उनसे उसने पहले ही दिन प्रश्न किया—मौलवी साहब ! क्या आप कभी सुरखी कूटते थे। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसने यह बात मौलवी साहबकी लाल दाढ़ी देखकर कही।

उपर्युक्त घटनाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि उक्त बालकमें सजीवता और मौलिक उद्भावनाकी कमी नहीं है; अभाव है उचित पथ-प्रदर्शनका। यह अभाव उसे समस्यापूर्ण बालक बना रहा है। उसका सुधार एक समस्या है जिसका समाधान एक चतुर शिक्षकने* इस प्रकार किया। जिस दिनसे वह उसे पढ़ानेके लिये नियुक्त हुआ उस दिन वह अपने विद्यार्थीके घर सायंकालको पहुँचा। बालक कुछ डरत-झिझकता उसके पास आकर पढ़नेके लिये बैठ गया। परन्तु चतुर अध्यापकने विद्यार्थीसे कहा कि सन्ध्याका समय तो खेलनेके लिये होता है। यदि तुम्हारे पास फ़ुटबौल हो तो ले आओ। विद्यार्थी अचरजमें भर गया। उसे अध्यापकके मुखसे ऐसे प्रस्तावकी आशा न थी। फिर भी उसने इस आज्ञाका पालन बड़ी तत्परतासे किया। गुरु-शिष्य मैदानमें खेलने लगे। चलते समय अध्यापकने कहा—भाई अकेले खेलनेमें आनन्द नहीं आता। कुछ लड़के तुम इकट्ठे करो कुछ मैं अपने साथ लाऊँ। विद्यार्थी कृतज्ञतासे भर गया। अध्यापकको बाहरतक पहुँचाने आया। दूसरे दिन उसी समय शिक्षकोंसे भागनेवाला वह बालक नवीन अध्यापककी प्रतीक्षा करने लगा। उसके आनेपर पुनः खेल प्रारम्भ हुआ। सप्ताह बीतनेपर अध्यापककी

---

* हिन्दुस्तान स्काउट एसोसिएशनके चीफ़ कमिश्नर पं० श्रीराम बाजपेयी।

सम्मतिसे बालकके माता-पिताने उसके सामने एक दिन अध्यापककी शिकायत की और उसे छुड़ानेका विचार प्रकट किया। यह सुनकर वह बालक अत्यन्त दुखी हुआ। अध्यापकके आनेपर उसने स्वयं कहा कि अब आप कुछ पढ़ाया भी कीजिए नहीँ तो हमारे पिता आपको छुड़ा देँगे। अध्यापक तो यही चाहता ही था। उसने उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया और भविष्यमेँ पुनः बालककी शिकायतका कोई अवसर न आया।

इसी प्रकार अभिभावकोँके व्यवहारसे कुछ बालकोँमेँ आत्महीनताकी ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है जिसका एक अद्भुत उदाहरण नीचे दिया जाता है। किसी व्यक्तिके दो बच्चे थे। उनमेँ एक था बालक और दूसरी थी बालिका। बालिकाका छोटासे छोटा दोष महा अपराधमेँ गिना जाता था जिसके फलस्वरूप वह नित्य ही दंडित होती थी। दूसरी ओर बालक अपराध करनेपर भी प्रशंसित होता था और मातापिता उसे और भी अधिक प्यार करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बालिकाके हृदयमेँ आत्महीनताकी ग्रंथि जड़ पकड़ने लग गई। उसने धीरे-धीरे हकलाना प्रारंभ किया और अन्तमेँ बिलकुल मौन रहने लगी। अब माता-पिताको चिन्ता उत्पन्न हुई। वे उसे बाल-मनोविज्ञानके किसी जानकारके पास ले गए। उसे सारी कथा सुनाई। उस व्यक्तिने लड़कीको अपने पास बुलाया और उससे बातचीत करने लगा। पर लड़की मौन ही रही। अंतमेँ उसने उस लड़कीके सामने प्रकारान्तरसे उसीकी कथा कहना प्रारम्भ किया। लड़कीको

आँखोंमें तुरन्त समझदारीकी चमक आगई और सारी बातें अत्यंत ध्यानसे सुनने लगी। अंतमें जब उससे कथाकी बालिकाके अद्भुत आचरणका कारण पूछा गया तब क्रोधसे उसने अपने ही आचरणका कारण कह डाला और अपनी रामकहानी सुनाते हुए अन्तमें कहा कि जब मैं नटखटी करती हूँ तब वे मुझे म-म-म-मारते हैं पर जब वह करता है तब उसे वे प-प-प-प्यार करते हैं। कहिए क्या आप इसे उचित समझते हैं। अपनी कथा कहते हुए बालिका केवल दो बार हकलाई—मार और प्यार शब्दका उच्चारण करते हुए। बालिकाके माँ-बापको सलाह दी गई कि वे अपने व्यवहारमें परिवर्तन करें। इसी प्रकार अध्यापकोंके कठोर व्यवहारसे भी भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं।

ऊपरकी तालिकामें गिनाए हुए प्रकारोंके बालकोंसे कैसे व्यवहार किया जाय इसकी विवेचना करनेसे पूर्व पुरस्कार-विधान और दंडविधानकी कुछ व्याख्या कर देना आवश्यक है। अच्छे बालकोंको पुरस्कार और दुष्ट बालकोंको दंड मिलना चाहिए इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। अतः हमें यह भी विचार कर लेना चाहिए कि पुरस्कार और दंड कितने प्रकारके होते हैं, उनमें से कौनसे प्रयोजनीय और कौनसे त्याज्य हैं।

पुरस्कार-विधान

पुरस्कार कई प्रकारके होते हैं।

१. आर्थिक पुरस्कार—रुपये पैसेके रूपमें।

२. सम्मान-पुरस्कार—चाँदी सोनेके बिल्ले तथा प्रमाणपत्र आदिके रूपमें।

३. सहायक पुरस्कार—पुस्तक, वस्त्र आदिके रूपमें।

४. शाब्दिक पुरस्कार—सबके सामने या एकान्तमें प्रशंसा करके।

आर्थिक पुरस्कार छात्रको लोभी बना देता है। छात्र जो कुछ काम करता है वह रुपया-पैसा पानेके लाभमें करता है, वह उसके लिये व्यापार बन जाता है। सम्मान-पुरस्कार भी बिलकुल व्यर्थ सा ही है। वह केवल प्रदर्शन मात्रके लिये ही रहता है। बिल्ला लगाकर या प्रमाणपत्रको शीशेमें मढ़कर रखनेसे आत्मतुष्टि मात्र होती है और अहंकार बढ़ता है अतः ये दोनों प्रकार त्याज्य हैं। तीसरा सहायक पुरस्कार अच्छा है किन्तु यह दीन छात्रोंके अधिक कामका है। धनी लोगोंके लड़के वार्षिकोत्सवके अवसरपर भले ही इस प्रकारका पुरस्कार स्वीकार कर लें किन्तु अलग इस प्रकारका पुरस्कार लेनेमें वे अपना अपमान समझेंगे। अतः अध्यापकोंको चाहिए कि कक्षामें यथासंभव प्रशंसाके रूपमें शाब्दिक पुरस्कार ही दें। सबके सम्मुख अपनी प्रशंसा अपने गुरुजनोंसे सुनकर छात्रोंको एक प्रकारकी सात्त्विक उत्तेजना मिलती है, उल्लास होता है और उनका मन बढ़ता है। यद्यपि इससे भी अहंकार आता है किन्तु वह क्षणिक होता है, उससे नैतिक हानि नहीं होती। यों अलग बुलाकर एकांतमें भी प्रशंसा की जा सकती है किन्तु उससे छात्रको प्रसन्नता भले ही हो पर सन्तोष नहीं होता, वह दस जनोंके बीच अपना यश सुनना चाहता है और यह दुर्बलता बालकोंमें ही नहीं बड़े-बड़े त्यागी महात्माओंमें भी होती है। यह ध्यान रखना

चाहिए कि अच्छे कामकी प्रशंसा न करनेसे बड़ा बुरा फल होता है। कर्त्ताके मनमेँ यह बात बैठ जाती है कि मेरे कामकी कोई पूछ नहीँ हुई फिर मैँ क्योँ करूँ। इस प्रकार बारबार अपने अच्छे कामोँकी उपेक्षा देखकर सम्भव है वह उलटा ही आचरण करने लगे। अतः अच्छे कार्य्यकी प्रशंसा करनेसे कभी न चूकिए। इतना ही नहीँ वरन् उन अच्छे बालकोँका उदाहरण अन्य छात्रोँके सम्मुख भी रखते चलिए जिससे औरोँमेँ स्पर्द्धा-बुद्धि जगे और दूसरे छात्र भी अच्छे काम करनेमेँ प्रवृत्त होँ।

दंड-विधान

जिस प्रकार पुरस्कारके अनेक प्रकार होते हैँ उसी प्रकार दंडके भी अनेक प्रकार होते हैँ—

१. शारीरिक दंड—वे दंड जिनके द्वारा छात्रोँके शरीरको कष्ट मिले। इसका उद्देश्य यह होता है कि छात्र उस दंडकी विभीषिकासे डरकर पुनः अपराध न करे और दूसरे छात्र भी उसके कष्टको देखकर वैसा अपराध करनेका साहस न करेँ। शास्त्रोँमेँ कहा गया है कि—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रं च शिष्यं च ताड़येन्न तु लालयेत्॥

—अर्थात् लाड़-चावसे बालक बिगड़ जाते हैँ और ताड़नासे ठीक रहते हैँ, इसलिये पुत्र और शिष्यका लाड़ नहीँ करना चाहिए, उन्हेँ ताड़ना देनी चाहिए। यहाँ पर ताड़ना शब्दका अर्थ लोगोँने डंडा चलाना मान लिया है। इसका वास्तविक अर्थ उचित प्रकारसे शासन करना, कुमार्गपर न जाने देना

ही है। ताड़नाके नवीन अर्थका परिणाम यह हुआ है कि अनेक पशु-अध्यापकोंने छात्रोंको शारीरिक कष्ट देनेके अनेक नये-नये पाशविक उपायोंका आविष्कार किया है उनमेंसे कुछ हैं— मुर्गा बनाना (झुककर दोनों पैरोंके पीछेसे हाथ निकालकर सामने लाना और अपने कान पकड़ना), दोनों हाथ फैलवाकर उनपर पाँच-पाँच सेरकी ईंटें रखना, कमर झुकवाकर उसपर पत्थर रखना, कोठरीमें हाथ-पैर बाँधकर बन्द कर देना, हाथ बाँधकर खूँटीपर लटका देना, बेंतको पानीमें भिगोकर उससे नंगी पीठपर मारना, उँगलियोंके बीचमें पेंसिल रखकर दबाना, हाथको उलटवाकर उसपर खड़ा पैमाना मारना, कक्षामें ही सौ-सौ बैठकें कराना, दोनों हाथ ऊपर उठवाकर एक पैरसे खड़ा करना, धूपमें घंटों खड़ा रखना, जाड़ेमें ठंडे पानीके छींटे देना, थप्पड़ मारना, कान खींचना या मसलना, चुटिया या बाल पकड़कर खींचना, घूँसे लगाना, मोटे गोल डंडे (रूलर)से मारना, चूँटना (चुटकी काटना), खेलके मैदानके चारों ओर दौड़ाना आदि। ये ऐसे जघन्य उपाय हैं जिन्हें सुनकर बर्बरताको भी लज्जा आती है। इन उपायोंका अवलम्ब वे ही अध्यापक लेते हैं जो अभी पशुत्वसे मनुष्यत्वमें प्रविष्ट नहीं हो सके हैं। किन्तु चारित्रियक दोषोंके लिये बेंतका परिमित प्रयोग सर्वथा अवाञ्छनीय भी नहीं है।

आजकल शिक्षा-विधानने शारीरिक दंडका निषेध कर दिया है और शारीरिक दंड देनेका अधिकार केवल मुख्याध्यापकको ही दिया है। यह बड़ी विडम्बना है कि शिक्षा-विभागवाले पशुताके प्रयोगके लिये मुख्याध्यापकको ही उपयुक्त पात्र

समझते हैं। बहुतसे हेडमास्टरोंको पूरे स्कूलके समक्ष छात्रोंको बेंत मारनेका रोग होता है। ऐसे हेडमास्टर शीघ्र ही बदनाम हो जाते हैं और स्वयं पिट भी जाते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ सरल और शिष्ट शारीरिक दंडोंका विधान भी किया गया है जिसमें नीचे खड़ा रखना, बेंचपर खड़ा करना और कोनेमें अलग खड़ा कर देना मुख्य हैं।

२. पारिश्रमिक दंड—अपराधके बदले ऐसा परिश्रम कराना जिससे छात्रका ज्ञान भी बढ़े, उसके अपराधका भी परिहार हो और वह यह भी समझता रहे कि मुझे दण्ड मिल रहा है। जो छात्र घरसे काम करके नहीं लाते उन्हें विद्यालय समाप्त होनेके उपरान्त ठहराकर निर्दिष्ट कार्य्य समाप्त करा लेना इसी प्रकारका दंड है। इस दंडको वन्दी-कक्षा-प्रणाली (डिटेन्शन क्लास सिस्टम) कहते हैं। कभी-कभी किसी शब्दके अशुद्ध लिखनेपर कह दिया जाता है कि इसका शुद्ध रूप एक सहस्र बार लिखो। यह दंड-विधान अधिक सार्थक है किन्तु इसकी भी अति नहीं होनी चाहिए। इसका कभी महीने-पखवाड़े प्रयोग कर लिया जाय तो बुरा नहीं।

३. आर्थिक दंड—अपराध करनेपर अर्थ-दंड देना (जुरमाना करना)। यह दंड बिलकुल व्यर्थ और अन्याय्य है क्योंकि इसका भार छात्रपर न पड़कर उसके पोषकपर पड़ता है। जो पोषक या पिता अपने बालकको पढ़ाने भेजता है, शुल्क देता है, वही दंडित हो इस अन्यायका किसी भी तर्क-द्वारा समर्थन नहीं किया जा सकता।

४. सामाजिक दंड—कक्षासे बाहर कर देना, स्कूलसे

बाहर निकाल देना, सब लड़कोंसे कह देना कि अपराधी छात्रसे न बोलें न बात करें और सब प्रकारका व्यवहार रखना छोड़ दें आदि इसके अन्तर्गत हैं। इस दंडका प्रयोग केवल विशेष अवसरोंपर—जैसे अवज्ञा अथवा चरित्र-दोषपर ही करना चाहिए।

५. भीति-दण्ड—बहुधा ऐसे बालक होते हैं जो इस डरसे अपराध नहीं करते कि कहीं हमारे पिता, अभिभावक या मुख्याध्यापकके पास हमारे कारनामोंका समाचार पहुँच जाय। अतः ऐसे छात्रोंको यह कहकर भी डराया जा सकता है कि यदि सुधार न करोगे तो उचित अधिकारीको सूचना दे दी जायगी। आवश्यकता पड़नेपर पिता या अभिभावकको एक-आध बार सूचना दी भी जा सकती है किन्तु बारबार मुख्याध्यापकका द्वार खटखटाने या अभिभावकसे शिकायत करनेसे अध्यापककी अक्षमता स्वयंसिद्ध हो जायगी। अतः यथासम्भव स्वयं अपराधीसे निपट लो, अपनी सहायताके लिये दूसरोंका आश्रय न लो।

६. तुलनात्मक पक्षपात-दंड—अपराधियोंको पीछे बैठाना और उनकी छुट्टी रोक लेना आदि कुछ ऐसे दंड हैं जिन्हें सामाजिक दंडके अन्तर्गत ही समझना चाहिए। ऐसे दंड लज्जावन्तोंके लिये तो ठीक हैं पर जिसने लाद ली है, लाज-हयाको धो बहाया है, चिकने घड़े हो गए हैं, उनपर इस दंडका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।

तात्पर्य यह है कि दंड देनेमें विवेकसे काम लेना चाहिए। दंडका अर्थ बदला लेना—व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, परिवारगत या

परम्परागत शत्रुता निकालना नहीं है। इसीलिये शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि, क्रोधमें भरकर, जोशमें आकर दंड मत दो। दंड देनेसे पूर्व अपराध और अपराधीका विचार करो और यह निर्णय करो कि किस दंडके प्रयोगसे अपराधीका सुधार होगा। शिक्षण-जगत्‌के दंड-विधानमें राजकीय दंडविधानके उद्देश्य नहीं आ सकते। हमारी प्रत्येक गतिका उद्देश्य सुधारना, और उन्नति कराना है। अतः हमारे दंडका भी यही उद्देश्य हो कि उससे छात्र सुधरे। इस सम्बन्धका एक रोचक आख्यान नीचे देते हैं।

एक बार किसी विद्यालयके अधिकारीने एक छात्रको निकाल दिया। उसी नगरके दूसरे विद्यालयके मुख्याध्यापकने उस अपराधी बालकको अपने विद्यालयमें भर्त्ती कर लिया। जब शिक्षा-विभागके संचालकोंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि अच्छा विद्यालय वह है जो बुरे लड़कोंको सुधारे। जो ऐसा नहीं कर सकते उनकी योग्यता और उनके सामर्थ्यमें सबको सन्देह करना चाहिए। जिसने केवल अच्छे लड़कोंको ही पढ़ाया-लिखाया उसने क्या किया, कुछ भी नहीं। वास्तवमें अच्छा अध्यापक वह पारस पत्थर (स्पर्शमणि) है जिसे कुधातु (लोहा) छू जाय तो सोना बन जाय।

नीचे हम अपनी बनाई हुई तालिकाके अनुसार प्रत्येक प्रकारके छात्रके साथ व्यवहार करने अर्थात् पुरस्कार या दंड देनेका विधान बतावेंगे।

बुद्धिके अनुसार

१. कुशाग्रबुद्धिको सदा प्रोत्साहित करते रहना चाहिए, उसे दूसरोंके सम्मुख उदाहरण-स्वरूप रखना चाहिए और उसपर मन्द बालकोंको सहायता देने और पढ़ानेका भार दे देना चाहिए। इससे उसमें आत्मविश्वास बढ़ता है, आत्म-महत्ताके भावको पोषण करनेमें सहायता मिलती है और दूसरेकी सहायता करनेका भाव उत्पन्न होता है।

२. साधारण बुद्धिमान्के ठीक काम करनेपर उसकी पीठ ठोंकनी चाहिए और प्रशंसा करनी चाहिए।

३. परिश्रम करके समझनेवाले छात्रके साथ परिश्रम करना चाहिए और उसे कक्षासे बाहर भी सहायता देनी चाहिए।

४. मन्द-बुद्धिको मूर्ख कहकर दुरदुराना नहीं चाहिए। उसे कुशाग्रबुद्धि छात्रोंपर सौंप देना चाहिए और सदा सहानुभूतिमय व्यवहार करके उसे प्रोत्साहन देते चलना चाहिए। वह थोड़े दिनोंमें ठीक हो जायगा।

५. मूढ़की शिक्षाके लिये दृश्य विधानोंका प्रयोग करना चाहिए। चलते-फिरते या रंगीन चित्र तथा अद्‌भुत वस्तुओंके निरन्तर प्रदर्शनसे उसकी मूढ़ता दूर हो जायगी।

६. सनकीको यदि ठीक पथ दिखला दिया जाय तो वह आगे चलकर बड़ा काम कर सकता है। संसारके सभी महापुरुष सनकी हुए हैं। जिसकी सनक पूरी हो जाती है उसे हम लोग महात्मा, दृढ़ और साहसी कह देते हैं किन्तु जो असफल हो जाता है, जिसे ठीक पथ नहीं मिल पाता वह सनकी और पागल कह दिया जाता है। अतः सनकीकी

सनकको ठीक तथा लोक-कल्याणकारी मार्गपर मोड़ दो बस उसका और समाजका कल्याण निश्चित है।

७. पागलको विद्यालयोंमें न रखकर पागलखानेमें रखना चाहिए। यों तो मनोविश्लेषण-शास्त्रियोंने पागलोंको सुधारनेके भी अनेक उपाय सुझाए हैं और पागलोंपर प्रयोग भी किए हैं किन्तु साधारण अध्यापकको पागलोंसे दूर ही रहना चाहिए। उनकी चिकित्सा वैद्यों तथा मनो-विश्लेषण-शास्त्रियोंपर ही छोड़ रखनी चाहिए।

स्वभावके अनुसार

१. सीधे बालकोंपर सदा दृष्टि रखनी चाहिए कि वे दुष्ट बालकोंके आखेट न बन जायँ क्योंकि उन्हें कुमार्गपर लेजाना दुष्टोंके बाएँ हाथका खेल है। उन्हें सदा किसी ऐसे काममें लगा रखना चाहिए कि उन्हें दुष्ट लड़कोंकी गति देखने और उनका अनुसरण करनेका अवसर ही न मिले।

२. चंचल बालकोंको कुछ न कुछ चलने-फिरने, हिलने-डुलनेका काम देना चाहिए। श्यामपट्ट पोंछना, स्याही बाँटना, कापी बाँटना या खड़िया लाना आदि कामोंके द्वारा उनसे अधिकसे अधिक शारीरिक श्रम लेना चाहिए। ऐसा काम न मिलने पर वे आपके सिरपर कूदने लगेंगे। पाठके समय भी ऐसे ही छात्रोंसे श्यामपट्टपर अर्थ लिखवाना, मानचित्र आदि बनवाना या समय-सरणि तैयार कराना चाहिए।

३. नटखट बालकोंसे भी उसी प्रकार व्यवहार करना चाहिए जैसे चंचल बालकोंसे। अन्तर केवल इतना ही रहे कि नटखट बालकोंसे ऐसा काम लेना चाहिए कि उन्हें इधर-

उधरकी बातें सोचनेका अवसर ही न मिले। ऐसे बालकोंको बीच-बीचमें टोकते भी रहना चाहिए और दुष्टता करनेपर उन्हें कक्षा-समाजसे अलग कर देना चाहिए। बस दो तीन बार ऐसा करनेसे उनका नटखटपन छूट ही जायगा। अधिक दुष्टतापर उसके अभिभावकोंका ध्यान भी आकृष्ट कराना चाहिए और नैतिक अपराधपर बेंतका भय दिखा देना भी कुछ बुरा नहीं है।

चरित्रकी दृष्टिसे

१. अत्यन्त सच्चरित्रको सदा दूसरोंके आगे आदर्श रूपमें रखना चाहिए और उसका यथावसर उदाहरण देकर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए।

२. मध्यम चरित्रवालोंकी ओर अधिक सावधानी रखनी चाहिए। उन्हें धार्मिक कथाओं और उपदेशोंके द्वारा सदा सचेत करते रहना चाहिए। उनके समक्ष ऐसे आख्यान रखने चाहिए जिनमें सच्चरित्रोंका सम्मान किया गया हो और दुश्चरित्रोंकी इस लोक तथा परलोक दोनोंमें दुर्गति दिखाई गई हो।

३. दुश्चरित्रोंको ठीक करनेका सबसे सरल उपाय यह है कि उन्हें पाठके प्रश्न पूछकर मूर्ख और बुद्धिहीन सिद्ध कर दिया जाय, साथ ही यह भी कहते रहा जाय कि जो चरित्रवान् होता है उसे विद्या शीघ्र आती है। सब छात्रोंको गुप्त रूपसे उस छात्रसे बचते रहनेका आदेश दे देना चाहिए। विद्यालय बन्द होनेके पीछे उसे तबतक किसी बहाने रोक रखना चाहिए जबतक अन्य बालक बहुत दूर न निकल जायँ। उसकी संगतिमें जिस बालकको देखें उसे दूर कर दें। ऐसे

छात्रोंको सबके सम्मुख मूर्ख बनाने और डाँटनेसे भी बड़ा प्रभाव पड़ता है किन्तु ऐसा न हो कि वह उलटा उत्तर देने लगे।

शारीरिक अवस्थाकी दृष्टिसे

१. स्वस्थ और हट्टे-कट्टे छात्रोंको नेतागिरीकी शिक्षा और दूसरोंकी रक्षा करनेका उपदेश देते रहना चाहिए। उनको यह बतलाते रहना चाहिए कि स्वस्थ शरीर दूसरोंकी रक्षा करने और ज्ञान प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने दिया है। विलासके द्वारा और दूसरोंको कष्ट देकर इसका दुरुपयोग नहीँ करना चाहिए। ऐसे छात्रोँको समाजसेवा आदिके कार्योंके लिये प्रोत्साहित करना चाहिए और जो स्वयं इस प्रकारके सेवा-कार्य्योंमेँ भाग लेते होँ उनको पुरस्कृत करना चाहिए।

२. दुर्बल और रोगग्रस्तोँसे बड़ी कोमलताका व्यवहार करना चाहिए। उनकी अवस्थाका उचित कारण जानकर उनकी उचित सहायता करनी या करानी चाहिए। ऐसे बालक प्रायः पढ़ने-लिखनेमेँ भी फिसड्डी रहते हैँ। इसका कारण उनकी मानसिक दुर्बलता या बुद्धिहीनता नहीँ अपितु शारीरिक दुर्बलता ही है।

३. बहुत मोटे लड़कोँको अध्यापक और छात्र प्रायः सभी लोग मोटा-मोटा कहकर चिढ़ाते हैँ। यह बुरी बात है। मोटे लड़कोँको हलके परिश्रमका काम देना चाहिए और यथासाध्य उन्हेँ चेतन रखना चाहिए। मोटे छात्रोँकी बुद्धि प्रायः मोटी होती है, शारीरिक व्यायाम उनसे हो नहीँ सकता, अतः नित्य उनसे चलने-फिरनेका काम लेकर उन्हेँ गतिशील रखना चाहिए। ऐसा करनेसे उनका मोटापन घटेगा, उनमेँ फुर्ती

आवेगी और फुर्तीके साथ उनकी बुद्धि भी बढ़ेगी।

४. बहुत दुबले-पतले लड़कोंकी भी वही दशा होती है जो बहुत मोटोंकी। ऐसे छात्रोंके लिये भी उचित व्यायामका विधान करना चाहिए और ऐसा मार्ग सुझाना चाहिए जिससे वे मोटे भले ही न हों पर गतिशील अवश्य रहें, थके या हारे हुए न रहें।

५. सुदर्शन या सुन्दर बालक प्रायः दुश्चरित्र लड़कोंकी वासनाके शिकार हो जाते हैं और एक बार वे जालमें पड़े कि फिर उनका निकलना कठिन हो जाता है। यह रोग केवल लड़कोंमें ही नहीं, लड़कियोंमें भी तीव्रतासे बढ़ रहा है और शिक्षाशास्त्री लोग इसका ठीक-ठीक उपाय कर नहीं पा रहे हैं। अमेरिकामें शिक्षाशास्त्रियोंने इसका कारण देरसे विवाह करना बताया है। अतः इस समस्याको सुलझाना टेढ़ी खीर है। फिर वास्तविक अपराधीको पकड़ पाना तो और कठिन है। किन्तु आँख सध जानेपर ऐसे लोगोंको चुन लेना कुछ कठिन भी नहीं है। सुदर्शन बालकोंको यथासंभव सब बालकोंसे दूर और अलग रखना चाहिए, कक्षामें भी अलग बैठाना चाहिए और उनपर विशेष दृष्टि रखनी चाहिए। अध्यापकको भी स्वयं ऐसे बालकोंसे दूर रहना चाहिए।

६. कुदर्शन या भद्दी सूरतवाले छात्रोंकी विद्यालयोंमें बड़ी दुर्दशा होती है। उनकी तुलना जानवरोंसे की जाती है, उनके भालू, बन्दर, रीछ आदि विचित्र नाम रख लिए जाते हैं और सब लोग उन्हें चिढ़ानेमें विशेष आनन्द पाते हैं। बहुतसे अध्यापकोंमें भी यह भद्दी आदत होती है कि वे ऐसे बालकोंके

एँड़े-बैंड़े नाम रख लिया करते हैं। ऐसे बालकोंको यह कहकर उत्साहित करना चाहिए कि भाई सुकरात भी कुदर्शन था, शिवाजी भी कोई बड़े सुन्दर नहीं थे और संसारका सबसे बड़ा राजनीतिज्ञ चाणक्य तो बड़ी ही भद्दी और डरावनी सूरतका था। महात्मा गान्धीको ही ले लो, कौन बड़ी सुन्दरता उनपर बरस रही है। इस प्रकार उनकी झेंप मिटाकर उनसे सहानुभूतिमय व्यवहार रखना चाहिए, उनसे गुण देखते ही चिढ़ानेवालोंके आगे उनकी प्रशंसा करनी चाहिए, जिससे वे अपने व्यवहारसे स्वयं लज्जित हों और चिढ़ाना छोड़ दें।

७. साधारण स्वास्थ्यवालोंको अधिक शक्त बननेके लिये प्रोत्साहित करते रहना चाहिए।

आचरणकी दृष्टिसे

१. व्यसनियोंका व्यसन छुड़ानेके दो उपाय हैं। या तो उनके व्यसनकी अति कर दी जाय अर्थात् चटोरेको इतना खिलाया जाय, इतना खिलाया जाय कि उसे अरुचि हो जाय अथवा उस व्यसनकी नियमतः विभिन्न अवसरोंपर ऐसी निन्दा या बुराई करते रहा जाय कि उसे स्वयं उसमें दोष दिखाई देने लगे और वह व्यसनसे मुँह मोड़ ले। उसके सम्मुख ऐसे उदाहरण रखनेका भी फल अच्छा होता है जिनमें व्यसनियोंका बड़ा करुण और भयानक अन्त दिखाया गया हो— जैसे अमुक सिगरेट पीनेसे जल मरा, अमुक बहुत चाट खानेसे हैज़ेका शिकार हो गया, अमुक पढ़ते-पढ़ते पागल हो गया आदि।

२. कामचोर छात्रोंके साथ स्वयं काम करना चाहिए और

बौद्धिक काम करानेसे पहले इनसे शारीरिक परिश्रम कराना चाहिए।

३. भगोड़ोंके पीछे अपने जासूस लगा रखने चाहिएँ जो उनकी गतिविधिका पूरा ब्यौरा दें और फिर सबके सामने उनका रहस्योद्घाटन हो। कभी-कभी भयसे भी छात्र भगोड़ होते हैं। उनका भय दूर कर देना चाहिए। उनसे मित्रवत् व्यवहार करके उनकी कठिनाई दूर करनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए।

४. निश्चिन्त लड़कोंका भार ऐसे नियमित छात्रोंपर दे देना चाहिए जो उन्हें अपने साथ लावें, ले जावें और अपने ही साथ स्कूलका काम भी करा लें।

५. लोभी लड़कोंका सुधार तब हो सकता है जब उनके लोभयुक्त व्यवहारकी समय-समयपर सबके सामने विनोद-पूर्ण टिप्पणी की जाय, पर वह टिप्पणी निन्दाका रूप न धारण कर ले। उन्हें उदार छात्रोंके संसर्गमें रक्खा जाय जहाँ वे स्वयं अपना दोष समझकर अपना चरित्र सुधार लें।

६. कंजूस लड़के आगे चलकर मक्खीचूस और समाजके लिये घातक सिद्ध होते हैं। इनका उपाय यह है कि उनके समक्ष उदार छात्रोंकी प्रशंसा करनी चाहिए और कंजूसीकी निन्दा करनी चाहिए। कभी-कभी कंजूसीका कारण अर्थ-हीनता भी होती है, इसका भी विचार कर लेना चाहिए।

७. सदा असंतुष्ट छात्रोंको सुधारनेका सीधा उपाय यही है कि उनके थोड़े भी गुणोंकी प्रशंसा करते रहा जाय, बस वे संतुष्ट हो जायँगे।

८. ईर्ष्यालु छात्रोंकी ईर्ष्याको स्पर्द्धाके रूपमें बदल देना चाहिए जिससे वे अच्छे छात्रोंसे आगे बढ़नेका प्रयत्न करें, ईर्ष्या न करें। उन्हें उत्साहित करते रहनेसे ही यह फल प्राप्त हो सकता है।

९. अहंकार मानव-मात्रका शत्रु है। इसे जैसे बने वैसे हटाना चाहिए। भगवान् विष्णुने अपने भक्त नारदजीका अहंकार दूर करनेके लिये उनकी दुर्गति करा डाली थी, बन्दरका रूप बना दिया था। अतः छात्रोंका अहंकार अवश्य निकाल देना चाहिए और इसका सरल उपाय यह है कि यदि वह अपनेको बड़ा चतुर समझता हो तो उससे ऐसे कड़े प्रश्न किए जायँ कि वह उत्तर न दे सके, बस वह स्वयं लज्जित हो जायगा और उसका अहंकार गल जायगा। इसी प्रकार उसके अन्य प्रकारके अहंकारोंका भी परिहार किया जा सकता है।

१०. साहसी छात्र कभी-कभी दुःसाहसके काम भी कर बैठते हैं। मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि यदि ऐसे छात्रोंको सत्साहसकी ओर प्रवृत्त नहीं किया जाता तो ये आगे चलकर डाकू, चोर या ठग हो जाते हैं। अतः ऐसे छात्रोंको सत्साहसके कामोंमें प्रवृत्त कराना और दुःसाहसके कामोंसे निवृत्त कराना चाहिए। ऐसे छात्रोंको सेवाके कामोंमें अधिक लगाना चाहिए।

११. दुखी छात्रोंका उद्धार तो उनकी स्थिति जानकर उनकी सहायता करने या करानेसे ही हो सकता है। बहुतसे छात्र ऐसे होते हैं जो अपना दुःख कहते हुए सकुचाते हैं। उनका विश्वासपात्र बनकर उनके दुःखका कारण जानकर

उनके दुःख दूर करनेका उपाय करना चाहिए। दुःख दूर होने पर उनकी पाठ-सम्बन्धी समस्याएँ स्वतः सुलझ जायँगी।

१२. दुर्ललित छात्रोंको माता-पितासे अलग करके थोड़े दिन छात्रावासमें रख दो, बस उनकी बुद्धि ठिकाने आ जायगी। घरसे दूर रखना ही उनकी परमौषधि है।

१३. कुसंगमें पड़े हुए छात्रोंको अपने साथ रखना सबसे अच्छा है। यदि छः महीनेके लिये भी कुसंग छूटा तो समझ लो सदाके लिये छूट गया।

१४. स्वाभाविक अपराधियोंका काम बड़ा टेढ़ा है। उनके साथ बड़े कौशलसे व्यवहार करना चाहिए। उनको किसी न किसी दायित्वका काम देनेसे—मानीटर कैप्टेन आदि बना देनेसे बड़ा काम निकलता है। चोर लड़कोंको पैसे रुपयोंका प्रबन्ध देनेसे उनकी चोरीका अभ्यास दूर हो जाता है। ऐसे बालकोंका मनोवैज्ञानिक अध्ययन भी करना चाहिए और मूल दोष पाकर उसका उपाय भी करना चाहिए।

१५. अनियमित छात्रोंको नियमित करनेका सरल उपाय यही है कि उनका भार नियमित छात्रोंपर छोड़ दिया जाय, वे स्वतः नियमित हो जायँगे।

इस प्रकार हमने प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्रियों, अनुभवी अध्यापकों तथा इस सम्बन्धकी पुस्तकोंसे पाठशालामें आनेवाले छात्रोंके व्यवहारका ब्यौरा दिया है किन्तु ये कोई परिमित उपाय नहीं हैं। कुशल अध्यापक अपनी बुद्धि, विवेक और कौशलसे छात्र, अपराध और परिस्थितियोंको दृष्टिमें रखकर और भी उपायोंका सफलतापूर्वक प्रयोग कर सकता है।

एक योरोपीय मुख्याध्यापकने एक दुष्ट छात्रको सुधारनेके लिये एक बड़ा विचित्र दण्ड खोज निकाला था। उसके विद्यालयमें एक ऐसा पाजी छात्र था जिससे स्कूलके अध्यापक, छात्र, अभिभावक, अड़ोसी-पड़ोसी, माता-पिता सब तंग आ गए थे। मार-पुचकारके सब अस्त्र उसपर असफल रहे। एक दिन उस मुख्याध्यापकने विद्यालयके सब छात्रों और अध्यापकोंको स्कूलके मैदानमें एकत्र किया। एक बेंत वहाँ पहलेसे रक्खी हुई थी। सबके आ चुकनेपर उस दुष्ट लड़केको सामने बुलाया गया। वह अकड़ता हुआ सामने आ पहुँचा। सब लोग यही समझते रहे कि आज इस लड़केकी भरपूर मरम्मत होगी। पर सबको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि मुख्याध्यापकने अपनी बेंत उस लड़केको पकड़ा दी और अपना हाथ फैलाकर उससे कहा—आजतक मैंने तुम्हें बेंतें लगाई थीं, आज तुम मुझे बेंतें लगाओ क्योंकि मैं तुम्हें सुधारनेमें असफल सिद्ध हो गया हूँ। यह सुनते ही उस लड़केकी आँखोंमें आँसू आगए, वह मुख्याध्यापकके पैरोंपर गिर पड़ा और प्रतिज्ञा की कि आजसे मैं कभी कोई अपराध न करूँगा और अपना आचरण ठीक रक्खूँगा। आगे चलकर वह पाजी छात्र उस प्रान्तका प्रान्तपति और न्यायप्रिय नेता हुआ। किन्तु ऐसे अवसर असाधारण हैं और इसीलिये रेखा खींचकर, दावेके साथ यह नहीं कहा जा सकता कि बस सुधारनेके ये ही उपाय हैं अन्य नहीं।

१६

अध्यापक और परीक्षाएँ

विद्यालयोंमें परीक्षा भी एक बड़ी बला है। आजकलकी शिक्षा-प्रणालीको दूषित बनानेका मूल कारण ये परीक्षाएँ हैं। आजकल हम ज्ञानके लिये शिक्षा नहीं देते, परीक्षा पास करानेके लिये शिक्षा देते हैं क्योंकि उसके आर्थिक और सामाजिक दोनों महत्व हैं। नौकरीके लिये परीक्षा पास करनी चाहिए। समाजमें समादृत होनेके लिये परीक्षा पास करनी चाहिए। और तो और बेचारी कन्याओंको भी अपनी वैवाहिक योग्यताके लिये परीक्षा ही पास करनी चाहिए। किन्तु यदि हम परीक्षा-प्रणालीपर दृष्टिपात करें, उसकी व्यवस्था और उसके दंड-विधानपर विचार करें तो उसके आगे अँगरेज़ी राजकीय दंड-विधान (इंडियन पीनल कोड) भी लज्जासे सिर झुका लेगा।

एक पिता यह जँचवाना चाहता है कि उसका पुत्र कौलेजमें प्रवेश होनेके योग्य है या नहीं। वह इसके लिये रजिस्ट्रारको शुल्क देता है। परीक्षा-भवनमें वह लड़का अनुत्तीर्ण होनेके भयसे, लोगोंमें लज्जित किए जानेके भयसे, आगे बढ़नेके प्रलोभनसे अपनी जेबमेंसे एक कागजका टुकड़ा निकालकर उसमेंसे देखकर लिख लेता है। परीक्षा-भवनमें पहरा देनेवाले सन्तरीकी दृष्टि पड़ती है। लड़का पकड़ा जाता

है। पकड़नेवाले तथा उसके साथी कहते हैं कि यह तो चोरी—नहीं नहीं—हत्या करता पकड़ा गया (ही वाज़ कौट रेड-हैन्डेड्)। ऐसा ही अँगरेजीका मुहावरा है। उसका दंड सुनाया जाता है कि दो वर्षोंतक वह किसी परीक्षामें न बैठ सकेगा। पर दंड इतना ही नहीं है। उसका नाम पिताके नामके साथ निकाले हुए लड़कोंकी सूचीमें गज़टमें छापा जाता है जिसका फल सामाजिक लाञ्छन, व्यापक बदनामी और आत्मग्लानि होती है। वह लड़का, उसका पिता और उसके निकट सम्बन्धी कहीं मुँह दिखलाने योग्य नहीं रह जाते। जीवनके दो वर्ष व्यर्थ नष्ट हो जाते हैं और पढ़ाईमें जो रुपया व्यय हुआ उसकी तो गणना ही नहीं। अब बालकके मनपर इस घटनाकी क्या प्रतिक्रिया होती है वह भी देखिए। वह उदास रहता है, किसीसे मिलता-जुलता नहीं क्योंकि उसके दूसरे साथी भी अब उससे कतराते हैं। सब लोग उसकी ओर उँगली उठाते हैं मानो उसने स्त्री-हत्या, बालहत्या या ब्रह्महत्या की हो। उसका मन पढ़नेमें नहीं लगता, धीरे-धीरे वह रोगी हो जाता है। किसी प्रकार दो वर्षोंकी इस यातनाके पश्चात् उसने परीक्षा पास भी कर ली तो उसपर यह कलंक सदाके लिये लगा रह गया कि वह परीक्षासे निकाला गया था। उसे नौकरी नहीं मिलती। उसका सारा जीवन इस प्रकार नष्ट हो गया, और यह जीवन नष्ट किया गया उसीके व्ययसे, उस शुल्कसे जो उसके पिताने दिया अपने पुत्रकी योग्यताकी परीक्षाके लिये। उसपर तुर्रा यह है कि उसे अपनी सफ़ाई देनेके लिये अवसर नहीं दिया

जाता। यह शिक्षा-सरकारका निराला मार्शल-ला है, न अपील, न वकील, न दलील।

अब एक दूसरी घटना लीजिए। एक चोरने किसीके घरका ताला तोड़ा। चार-पाँच सौका धन चुराया, पकड़ा गया। चालीस पचासका माल उसके पाससे मिला। उसे छः महीनेकी सज़ा हो गई। चार सौ रुपया वह घर दे जाता है। जेलमें उसे ठीक समयपर खानेको मिलता है, कपड़ा मिलता है, डाक्टर देखने आता है, जेलके सैकड़ों वन्दियोंमें उसे मनबहलावके लिये साथी भी मिल जाते हैं। छः महीने सजा काटकर वह आता है, चायकी दूकान खोल लेता है। सब उसके यहाँ चाय पीते हैं, दंडित होजानेसे उसकी बिक्रीमें अन्तर नहीं पड़ता। वह मज़ेमें है।

दोनों घटनाओंकी तुलना करके देखिए कि अपराध किसका बड़ा है और दंड किसे अधिक मिला है। कोई भी इससे यह परिणाम निकाल सकता है कि परीक्षार्थी और उसके अभिभावकको बड़ा कड़ा दंड दिया गया है। पर इसका कारण कौन है। इसके कारण हैं वे अध्यापक जो शानमें आकर परीक्षा-भवनमें पुलिसके दारोगा बन जाते हैं और जैसे बिल्ली चूहेकी ताकमें रहती है ऐसे ही ये लोग भी किसीको पकड़नेकी ताकमें रहते हैं। ऐसी दूषित मनोवृत्ति रखनेवालोंको पुलिसमें भर्त्ती हो जाना चाहिए, शिक्षाके क्षेत्रमें इनका कोई काम नहीं है।

तो क्या इसका यह अर्थ है कि परीक्षामें हम छात्रोंको परस्पर बातें करने दें, नकल करने दें। मैं कहूँगा कभी नहीं।

तब क्या करना चाहिए। पहले ऐसे छात्रोंको सावधान कर दो। फिर उनके माता-पिताके गौरवका स्मरण दिलाओ—तुम ऐसे माता-पिताके पुत्र होकर ऐसा काम करते हो। बात करने वाले दोनों छात्रोंके स्थान बदल दो। यदि किसी कागज या पुस्तकसे नकल कर रहा हो तो वह कागज या पुस्तक उससे धीरेसे लेकर फाड़कर फेंक दो या अपने पास रख लो। यही पर्याप्त दंड है, पर्याप्त चेतावनी है और इस मानसिक दंडके साथ-साथ अध्यापकके प्रति छात्रकी श्रद्धा भी बनी रहती है। मैं अपने अनुभवकी एक घटना सुनाता हूँ। एक बार मैं एक परीक्षामें चौकीदार (गार्ड) था। मैंने देखा कि एक मुसलमान छात्र कागजके पन्नेसे कुछ नकल करनेका प्रयत्न कर रहा है। मैं धीरेसे उसके पास गया; उससे कागज माँग लिया, उसे फाड़कर फेंक दिया और उससे कह दिया कि पर्चा करो। मेरे व्यवहारका उसपर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने फिर कभी नकल नहीं की और अब भी जब कभी वह मिलता है तो बड़ी कृतज्ञताके साथ मिलता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि छात्रोंके साथ वह बर्त्ताव कभी नहीं करना चाहिए जो पुलिसके सिपाही अपराधियोंके साथ करते हैं। हम लोग अध्यापक हैं, गुरु हैं। हमारा छात्रसे या अपराधीसे द्वेष नहीं है, अपराधसे द्वेष है। अपराधका कारण या मूल दूर करना ही हमारा अभीष्ट है। हमें ऐसा उपाय करना चाहिए कि छात्र अपराध ही न करें। जैसे यह नियम है कि जिस चौकीदारकी रखवालीमें चोरी हो वह निकाल दिया जाय, यदि वही नियम इन परीक्षाके चौकीदारों

(इनविजिलेटर्स) के लिये भी लागू हो जाय तो देखिए कल ही नकल करना बन्द हो जाय। यह तो चौकीदारोंका ही अपराध है कि उनके रहते चोर घरमें प्रवेश पा ले।

जैसा हम कह आए हैं, छात्र या बालक स्वतः स्वभावतः अपराधी नहीं होते। पास होनेकी लालसा, फ़ेल होनेसे समाजमें बदनामीका डर, समयकी बचत आदि कितने ही प्रलोभनोंसे प्रेरित होकर छात्र नकल करते हैं। जो अधिकांश लड़के नकल नहीं करते वे स्वतः ईमानदार होनेके कारण नहीं वरन् पकड़े जानेके भयसे नकल नहीं करते। बालकोंकी बात तो जाने दीजिए, वे तो बच्चे हैं, अच्छे-बुरेका उन्हें कम ज्ञान होता है, पर हम-आपमेंसे ऐसे कितने माईके लाल हैं जो छाती ठोंककर यह कह सकेंगे कि जीवनमें हम किसी प्रलोभनमें नहीं पड़े। हमें वह उक्ति सदा स्मरण रखनी चाहिए 'वैद्यजी, पहले अपनी चिकित्सा करो' (फ़िज़ीशियन, क्योर दाइसेल्फ़)। जो अध्यापक छात्रोंमें सदा दोष खोजा करते हैं वे घृणा तो मोल लेते ही हैं, साथ ही कभी-कभी उनकी पूजा भी हो जाती है, और ऐसी पूजा होती है कि वे पानी नहीं माँग सकते। अतः इन परीक्षाके अवसरोंपर अध्यापकोंको यही भावना रखनी चाहिए कि हम अपराधकी ओर छात्रको अग्रसर ही न होने दें और साथ-साथ उसका सुधार इस प्रकार करें कि वह आजीवन हमारा ऋणी बना रहे, उसका जीवन नष्ट न होने पावे।

इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि परीक्षामें अङ्क देनेमें कंजूसी न करो। बहुतसे लोग अंकोंको दाँतोंसे पकड़ते हैं मानो कोई अगाध निधि उनके हाथोंसे छीनी जा रही हो।

जो जितने अंकोंके योग्य हो उसे उतने अंक अवश्य दो, भले ही आपको सौमें सौ ही देने पड़ें। बहुतसे अध्यापक किसी छात्रसे या उसके अभिभावकसे अप्रसन्न होनेके कारण या झगड़ा होनेके कारण परीक्षामें बदला निकालते और फ़ेल कर देते हैं। ऐसे नीच लोग शिक्षक-समाजके कलङ्क हैं। जो अध्यापक किसी पुराने झगड़ेको परीक्षामें कसर निकालनेके लिये रख छोड़ता है उससे अधिक पापी और कौन हो सकता है।

यदि छात्र अनुत्तीर्ण होते या नकल करते हैं तो इसका दोष अध्यापकोंपर ही है। इसका अर्थ यही निकलता है कि अध्यापकोंने न तो ठीकसे पढ़ाया और न उनमें आत्मबल भरा। यदि प्रत्येक अध्यापक इस भावनाको दृढ़ पकड़ ले तो यह व्यापक असफलता कम हो जाय और अध्यापककी मर्यादा भी बढ़े।

हमें सदा यह प्रयत्न करना चाहिए कि परीक्षाका जो हौवा छात्रोंके हृदयमें बैठा हुआ है उसे दूर कर दें। साप्ताहिक या मासिक परीक्षा अथवा आकस्मिक परीक्षाओंके प्रचलनसे यह विभीषिका दूर हो सकती है। बहुतसे शिक्षाशास्त्री तो अंकों-द्वारा परीक्षा लेनेके ही विरुद्ध हैं। वे कहते हैं कि कोई भी परीक्षक तौलकर अंक नहीं दे सकता। फिर अंक देनेसे छात्रोंमें असन्तोष भी फैलता है और अकारण ही परीक्षक-पर पक्षपाती होनेका दोष लगा दिया जाता है। अतः सरल उपाय यह है कि अङ्कके स्थानपर चार श्रेणियाँ बना ली जावें—श्रेष्ठ, मध्यम, सन्तोषजनक तथा मन्द। बस जो छात्र जिस

श्रेणीके योग्य हो उसे वह श्रेणी दे दी जाय। बहुत-सी व्यर्थकी झंझट, बदनामी, असन्तोष आदि दूर हो जायँगे और परीक्षाका भूत भी भाग खड़ा होगा। शिक्षा-पद्धतिको सुधारनेके लिये अध्यापक-समाजको आन्दोलनोंके द्वारा यह प्रयत्न करते रहना चाहिए कि परीक्षा-प्रणाली शीघ्र नष्ट हो। यदि यह भी न हो पावे तो कमसे कम परीक्षा-प्रणालीकी अनुचित महत्ता तो कम हो जाय। क्योंकि जबतक यह प्रणाली जीवित रहेगी तबतक हमारे देशमें वास्तविक शिक्षाका प्रसार और प्रचार करना आत्म-प्रवंचना और विडम्बना मात्र ही है।

१७

कुछ व्यावहारिक बातें

पिछले अध्यायोंमें हम अध्यापन-कला-सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातोंपर विस्तृत रूपसे विचार कर चुके हैं। इस अध्यायमें उपसंहार-रूपसे हम कुछ और ऐसी व्यावहारिक बातोंका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं जो अध्यापकको लोकप्रिय बनानेमें बहुत सहायता कर सकती हैं। इनमें से कुछ तो पहले भी कही जा चुकी हैं और कुछ नई हैं—

१. अपने साथी अध्यापकोंसे सदा सद्भाव रक्खो और कभी किसीके सामने, कक्षामें या बाहर उनमें से किसीकी बुराई न करो। यदि कोई दूसरा बुराई करता भी हो तो उसका शिष्ट रूपसे खंडन कर दो या मौन रहो पर वह मौन समर्थनात्मक मौन नहीं वरन् विरोधात्मक मौन होना चाहिए। छात्रोंको भी अपने सामने अन्य अध्यापकोंकी बुराई करनेसे रोको।

२. छात्रोंको पुस्तक, सम्मति तथा अन्य प्रकारकी सहायता देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहो। यदि कोई छात्र रोगी हो तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करो और जबतक वह चंगा न हो जाय उसको देखते रहो या उसका समाचार लेते रहो। यदि कोई छात्र आर्थिक सहायता माँगे तो उसे नहीं मत कहो, उधार लेकर भी सहायता करो। उचित तो यह है कि सहायताके

योग्य छात्रोंको बिना उनके माँगे ही सहायता दो।

३. छात्रोंके संघटनों, उत्सवों, सभाओं आदिमें जब निमन्त्रण मिले तब अवश्य सम्मिलित हो, किन्तु निमन्त्रण न मिलनेपर वहाँ न जाओ।

४. छात्रोंको ज्ञान देनेमें कभी संकोच न करो और छात्रके अपने घर आनेपर उसे अवश्य समय दो चाहे अपने कामकी कितनी भी हानि हो। यदि छात्र भोजनके समय आ गया हो तो उसे भोजनके लिये भी पूछ लो।

५. सदा प्रसन्न और मस्त रहो। जब छात्र प्रणाम करें तो मुस्कराहटसे उनको आशीर्वाद दो और परिचित न होनेपर भी उनसे कुशल-मंगल पूछ लो। यदि वे साथ चलते हों तो उनसे इस प्रकार क्रमिक बातें करो कि उन्हें ज्ञात हो जाय कि वे ज्ञानकी निधिके समक्ष पहुँच गए हैं।

६. अपनी पुस्तकें छात्रोंको अवश्य दो पर उसका ब्यौरा रक्खो।

७. छात्रोंसे कक्षाके भीतर या बाहर बोलते या बात-चीत करते हुए एक ही भाषाका प्रयोग करो, चाहे वह हिन्दी हो, अँगरेज़ी हो या उर्दू हो और उसी तथा वैसी ही भाषाका अधिक व्यवहार करो जिसे छात्र समझ सकते हों। साधारणतः अपने व्यवहारमें मातृभाषाका प्रयोग करना चाहिए और आजकल जो हिन्दुस्तानी या ऐंग्लो-हिन्दुस्तानी नामकी खिचड़ी भाषा चली है उसका सर्वथा बहिष्कार करना चाहिए।

८. यथासम्भव गृहशिक्षण (प्राइवेट ट्यूशन) अध्यापकको नहीं करना चाहिए। इससे मान नष्ट होता है। जो अपने घर

आवे उसे निःशुल्क पढ़ा दो किन्तु पढ़ानेके लिये किसीके घर न जाओ। यही अध्यापककी मर्यादा और शान है।

९. अपनी गति संयत रक्खो। व्यसनोंसे दूर रहकर स्वच्छ दर्पणकी भाँति अपने चरित्रकी रक्षा करो। बाहरके लोगोंसे या छात्रोंसे अधिक मेल-जोल कभी न रक्खो।

१०. छात्रोंसे कभी सेवा न लो। यदि वे स्वतः सेवा करनेको उत्सुक हों तो उसे स्वीकार कर लो किन्तु अपनी शारीरिक सेवा—पैर दबवाना, तेल मलवाना आदि—तो कदापि न कराओ।

११. सदा स्वच्छ रहो। अपना घर, कमरा, वस्त्र, पोथी आदि सब स्वच्छ और करीनेसे रक्खो। अपने स्वभाव और व्यवहारमें सदा शिष्ट और मृदु रहो। छात्रोंके अभिभावकोंसे प्रेमसे मिलो और उन्हें छात्रकी उन्नतिके सम्बन्धमें उचित परामर्श भी दो।

हमें विश्वास है कि यदि अध्यापक इस पुस्तकके अनुसार व्यवहार करेंगे तो उन्हें अवश्य सफलता मिलेगी और वे शीघ्र ही अत्यन्त यशस्वी और लोक-प्रिय अध्यापक बन जायँगे।

॥ इति शम् ॥

हमारी अन्य पुस्तकें

भूषण-ग्रन्थावली	२)
केशवकी काव्यकला	१।।।)
क्रांतियुगके संस्मरण	१।)
हिंदीमेँ नाट्य-साहित्यका विकास	।-)
व्यंग्यार्थ-मंजूषा	।=)
ठाकुर-ठसक	।=)
हरिश्चन्द्र नाटक	।-)
शिवा-बावनी	।-)
सुदामाचरित	।)
क्रान्तिकारी कहानियाँ	१।।)
बनारसी एक्का	१)
शैली	२)
तुलसी-रचनावली	१।।।)
रामायण (मूल)	१)